भैरव प्रसाद गुप्त

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य, जिसमें तीन भविष्यवक्ता बुद्ध की माँ—रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं, जिसे नीचे बैठा लिपिक लिपिवद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का सम्भवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख।

नागार्जुन कोण्डा, दूसरी सदी ई-
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

भैरव प्रसाद गुप्त

मधुरेश

साहित्य अकादेमी

Bhairav Prasad Gupta : A monograph on the modern Hindi fiction-writer by Madhuresh, Sahitya Akademi, New Delhi (2000), Rs. 25.

प्रथम संस्करण : 2000 ई.

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय

रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोज़शाह मार्ग, नयी दिल्ली 110 001
विक्रय विभाग, 'स्वाति', मंदिर मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय

जीवनतारा बिल्डिंग, चौथी मंज़िल, 23ए/44 एक्स, डायमंड हार्बर रोड, कलकत्ता 700 053
443-445, अन्ना सालई, तेनामपेट, चेन्नई 600 018
172, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुम्बई 400 014
सेंट्रल कॉलेज परिसर, डॉ. बी. आर. अंबेडकर मार्ग, बंगलौर 560 001

ISBN 81-260-0871-7

मूल्य : **पच्चीस रुपये**

मुद्रक : पवन ऑफ़सेट प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032

अनुक्रम

जीवन-वृत्त, व्यक्तित्व और रचना-समय

भैरव प्रसाद गुप्त का जन्म बलिया ज़िले के एक छोटे से गाँव सिवानकला में 7 जुलाई 1918 को हुआ था। उनका परिवार गाँव का एक सम्मानित वैश्य-परिवार था जो बहुत अधिक संपन्न न होने पर भी सामान्य तौर पर एक खाता-पीता परिवार कहा जा सकता है। उस समय गाँव में आम लोगों की जैसी हालत होती थी, जिन कठिन और दुर्वह स्थितियों में उन्हें जीवन-यापन करना होता था, उसे देखते हुए यह परिवार कदाचित् टोले का सबसे संपन्न परिवार भी माना जा सकता है। उनके पिता गाँव में ही छोटा-मोटा व्यवसाय करते थे। अतः उनकी पढ़ाई की शुरूआत भी कुछ इस तरह हुई कि आगे चलकर वह पिता के व्यवसाय में सहायता कर सकें।

प्राइमरी स्कूल में जाने से पूर्व उन्हें महाजनी पढ़ाई गई। उस दौर में इस प्रकार के महाजनी स्कूल गाँवों में चलते थे जिनमें बनियों-महाजनों के बच्चों को ऐसी शिक्षा दी जाती थी जो उन्हें दुकानदारी के हिसाब-किताब में मदद पहुँचा सके। वही, रोकड़ और छोटा-मोटा हिसाब-किताब ही इस शिक्षा का मुख्य उद्देश्य होता था। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए इन स्कूलों में अधिकतर गणित की शिक्षा पर ही ज़ोर रहता था। उसे एक विशेष प्रकार की लिखावट में लिखा जाता था जो 'मुड़िया' कहलाती थी। गणित के ही एक अंग के तौर पर पव्वा, अद्धा, पौना और सवैया-ढैया आदि याद कराए जाते थे। एक से लेकर हज़ार तक की गिनती और पहाड़े भी इस शिक्षा का अनिवार्य अंग थे। स्कूल में पढ़ाई का आम ढंग यह होता था कि एक लड़का खड़ा होकर यह पहाड़े या सवैया-ढैया बोलता था और कक्षा के दूसरे बच्चे उसे ज़ोर-ज़ोर से दोहराते थे।

भैरव प्रसाद गुप्त की यह महाजनी शिक्षा एक-दो साल तक हुई। दिलचस्पी की चीज़ के नाम पर उसमें उन्होंने रविवार की छुट्टी के दिन पाट की पूजा

होने वाले कार्यक्रम का उल्लेख ख़ूब उत्साहपूर्वक किया है... "वहाँ मिट्टी की पाट बनाई गई थी, हर विद्यार्थी के लिए अलग-अलग। विद्यार्थी अपनी-अपनी पाट के सामने बैठकर उस पर लिखते थे। पूजा के लिए घर से चावल, गुड़, दूब और एक पैसा ज़रूर जाता था थाली में। हम लोग बहुत सुबह चार-पाँच बजे उठकर जाते थे और पास के पोखर में स्नान करते थे। स्नान करने के बाद हम लोगों में होड़ लग जाती थी कि कौन जल्दी फूल तोड़ता है। पोखर के किनारे-किनारे बहुत सारे कनेर के पेड़ लगे हुए थे। हम लोगों में होड़ लग जाती थी कि कौन ज़्यादा और जल्दी से फूल तोड़ कर अपनी थाली को सजा लेता है। फिर पाठशाला में विद्यादेवी या सरस्वती देवी की प्रार्थना होती थी और हम लोग बाक़ायदा सिर-माथा टेककर पाट की पूजा करते थे और उसके बाद उस दिन छुट्टी हो जाती थी पूजा के बाद और एक पैसा जो होता था, वह बहुत महत्त्वपूर्ण था हम लोगों के गुरुओं के लिए। उस दिन उन्हें बीस-पच्चीस पैसे मिल जाते थे यूँ ही..." (*मेरी साहित्य-यात्रा,* लेखन 3/4, पृ. 15)

भैरव प्रसाद गुप्त के अनेक उपन्यासों में दो हिंदू और मुसलमान लड़कों में स्कूल के दिनों की दोस्ती न सिर्फ़ उनके जीवन भर बनी रहती है, बल्कि वह उनके जीवन का मूलाधार भी सिद्ध होती है। *सत्ती मैया का चौरा* में मन्ने और मुन्नी तथा उनके मरणोपरांत प्रकाशित उनके अंतिम उपन्यास *एक छोटी सी शुरूआत* में सरल और आफ़ताब की दोस्ती इसके दो उदाहरण हैं जो एक तरह से उनके पूरे जीवन को समेट लेते हैं। यही कारण है कि भैरव प्रसाद गुप्त मानते थे कि लेखक के लिए, खासतौर से कथा-लेखक के लिए अपने जीवन के बारे में अलग से बताने की ज़रूरत नहीं होती, क्योंकि उसका जीवन उसकी अपनी रचनाओं में ही विन्यस्त होता है, बशर्ते उन रचनाओं को सावधानीपूर्वक पढ़ा जाए। ऐसे ही एक लड़के से अपने स्कूली दिनों में हुई दोस्ती का ज़िक्र वे अपने इसी आत्म-कथ्य में करते हैं। चूंकि वह गाँव के ज़मींदार का लड़का था, उनके और उसके जीवन-स्तर में बहुत अंतर था। उर्दू भाषा और लिपि के प्रति अपने आकर्षण का श्रेय भैरव उसे ही देते हैं। उसके हरफ़ों की बनावट इतनी आकर्षक होती थी कि उसका जादुई प्रभाव पड़ता था। उसी से प्रभावित होकर वे अपने माता-पिता को बताए बिना पढ़ने के लिए इस्लामिया स्कूल में पहुँच गए, जो तब सामान्यतः मुस्लिम बच्चों के लिए ही माना जाता था। उसमें नाम लिखवाकर बाक़ायदा पढ़ाई शुरू कर देने के कारण गाँव में ख़ूब हल्ला मचा। इस संदर्भ में भैरव प्रसाद गुप्त लिखते हैं, "वे आर्य समाजियों के आंदोलन के दिन थे और एक तरह से काफी वैमनस्य चल रहा था हिंदुओं और मुसलमानों

में। मेरे माता-पिता के पास लोग आए। मेरे चाचा तो बहुत कट्टर आर्य समाजी थे। उन्होंने कहा—'मेरे घर का लड़का उर्दू नहीं पढ़ सकता।' मैं उर्दू पढ़ना चाहता था और मैंने अलिफ़, बे शुरू भी कर दिया था। लेकिन कुछ इस तरह से दबाव डाला गया हमारे परिवार के उपर कि मेरे पिता जी उस दिन इस्लामिया स्कूल में आये और मेरा हाथ पकड़कर, मौलवी के रोकने के बावजूद मुझे ले गए और प्राइमरी स्कूल में ले जाकर मेरी भर्ती करा दी..." (वही)

मुसलमानों और उर्दू के प्रति सद्भाव की जो नींव भैरव प्रसाद गुप्त के स्कूली दिनों में पड़ी, वह उनके समूचे रचना-कर्म में शिरा प्रवाही रक्त का कार्य करती रही। मिडिल स्कूलों में पहुँचने पर उन्हें अंग्रेज़ी लेकर मिडिल पास करने के बाद सातवीं कक्षा में प्रवेश की व्यवस्था थी, जबकि उर्दू लेकर छठवीं कक्षा में ही प्रवेश मिलता था। लेकिन उर्दू भाषा और लिपि के प्रति जो आकर्षण उनके बाल-मन पर गहरा प्रभाव डाल चुका था उसके कारण उन्होंने उर्दू का चुनाव ही किया—अपने अभिभावकों के समझाने के बावजूद। बाद में अपनी इस ज़िद के कारण मिले लाभ पर टिप्पणी करते हुए वे लिखते हैं, "मैं आज यह बता सकता हैं कि उस उर्दू पढ़ने की वज़ह से मुझे इतना लाभ हुआ अपने लेखन में या ख़ुद अपनी भाषा के प्रयोग में, जिसकी कल्पना कोई उर्दू न जानने वाला नहीं कर सकता, क्योंकि उस समय तो मुझे मालूम नहीं था, मैं तो केवल आकर्षित हुआ था उसकी लिपि के कारण, लेकिन अब कोई भी यह समझ सकता है कि उर्दू या हिन्दी अपने आप में अकेली शायद उतना ज़िन्दा जबान नहीं है, जितनी कि दोनों मिलकर हैं। इसका सबूत हमें प्रेमचंद से मिलता है। प्रेमचंद की जबान जो कि आज भी कथा के लिए आदर्श ज़बान है। अगर प्रेमचंद उर्दू नहीं जानते होते, तो वे उस ज़बान में नहीं लिख सकते थे। इसलिए मेरी ज़िद एक तरह से वरदान साबित हुई..." (वही, पृ. 16)

इसी अवस्था में अपने भविष्य की कल्पना भैरव प्रसाद गुप्त ने एक शिक्षक के रूप में की थी। वह आर्य-समाज के प्रभाव की अनुगूंज का दौर था। छठवीं कक्षा में ही आर्य समाज की प्रतिनिधि-सभा आगरा द्वारा उन्हें महर्षि दयानंद की जीवनी लिखने पर प्रथम पुरस्कार मिला था। अपने निर्माण में वे अपने अध्यापक बाबू रघुनाथ राय की भूमिका और परिश्रम का उल्लेख बहुत कृतज्ञ-भाव से करते हैं। इस पुरस्कार की तैयारी से लेकर उनके बाल-मन की उर्वर और कल्पनाशील धरती पर साहित्यिक-संस्कारों के बीज बोने का वास्तविक श्रेय वस्तुतः उन्हें ही जाता है। राय स्वयं भैरव के ही पास के एक गाँव के ज़मींदार के पुत्र थे और सब कुछ सोच-समझकर ही उन्होंने अध्यापक बनने का निर्णय लिया था। वे

बाक़ायदा हाथी पर चढ़ कर स्कूल आते थे। वे हिंदी पढ़ाते थे और चंदबरदाई से लेकर आधुनिक कवियों के छंद, कुंडलियाँ, सोरठा, दोहा, चौपाई, गीत, कविताएँ आदि उन्हें इस तरह याद थीं कि वे हमेशा किताब बंद करके पढ़ाते थे। उनकी रसमग्नता का संक्रामक प्रभाव छात्रों पर भी पड़ता था और वे मुग्ध हो जाते थे। आगे चलकर इन्हीं के संपर्क और प्रेरणा से भैरव प्रसाद गुप्त कहानी-लेखन की ओर प्रवृत्त हुए। इन्हीं को अपना आदर्श बनाकर उन्होंने पहली नौकरी शिक्षक की ही की।

आगे की पढ़ाई के लिए भैरव प्रसाद गुप्त जब इर्विन कॉलेज, इलाहाबाद में पहुँचे तो वहाँ शिवदान सिंह चौहान, जगदीश चंद्र माथुर, गंगा प्रसाद पाण्डेय और राज बल्लभ ओझा आदि के सम्पर्क में आए। ये लोग हिंदी साहित्य-परिषद् के सक्रिय कार्यकर्ता थे। इलाहाबाद और उन साथियों के बीच भैरव प्रसाद गुप्त की साहित्यिक और राजनीतिक अभिरुचियों का विकास हुआ। एक लेखक के रूप में अपने को प्रतिष्ठित करने का विचार भी कदाचित् इसी काल में उनके मन में अपनी जड़ जमाना शुरू करता है। पत्र-पत्रिकाओं और नई किताबों की दृष्टि से इलाहाबाद एक आदर्श नगर था। साहित्यकारों का तो वह गढ़ था। यहीं साहित्य-परिषद् के एक वार्षिक अधिवेशन में इन छात्रों के ही बुलाने पर प्रेमचंद आए थे और भैरव प्रसाद गुप्त ने उन्हें पहली बार देखा था। उस प्रथम-दर्शन की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं, "उनकी दहकानी मूँछें, मटमैला खद्दर का कुर्ता और धोती और सीधा-सादा व्यक्तित्व देखकर हम सभी चकित रह गए थे। वे हर बात हँसकर करते थे..." (वही, पृ. 20) किसी औपचारिक भाषण के बदले प्रेमचंद ने इन छात्रों को उनसे सवाल पूछने को कहा था और इन्हीं सवालों के उत्तर में बातचीत का क्रम आगे बढ़ा था। इसी भेंट में उनकी हस्ताक्षर-पुस्तिका पर प्रेमचंद ने लिखा था—'मानव धर्म ही सबसे बड़ा धर्म है।' इलाहाबाद के इसी साहित्यिक-सांस्कृतिक परिवेश में भैरव प्रसाद गुप्त के रचनात्मक-संस्कारों को दिशा मिलती है। कॉलेजों और विभिन्न साहित्यिक संस्थाओं में तब आए दिन कवि-सम्मेलन आयोजित होते थे। वे कवि-सम्मेलन आज के कथित कवि-सम्मेलनों की भड़ैती और चुटकुलेबाज़ी से मुक्त थे और छात्रों में साहित्यिक अभिरुचियों के मुख्य प्रेरणा-स्रोत होते थे। अपने समय के महत्त्वपूर्ण कवियों को मंच पर कविता-पाठ करते देखना एक सुखद और आह्लादकारी अनुभव होता था। इस दौर में भैरव प्रसाद गुप्त के मन में स्वयं कवि बनने की इच्छा जगी थी। कुछ कविताएँ उन्होंने लिखीं भी। आगे चलकर 'आग़ा महल' शीर्षक उनकी एक कविता 'विशाल भारती' में छपी भी। इसी कविता को विस्तार देकर वे खण्ड काव्य भी

लिखना चाहते थे, लेकिन उनकी यह इच्छा पूरी नहीं हुई। इसी तरह *सावित्री-सत्यवान* शीर्षक एक महाकाव्य लिखने की योजना भी बनाई थी, जिसके नौ सर्ग 'हिन्दी प्रचारक' में प्रकाशित भी हुए। लेकिन वह कभी पूरा नहीं हुआ।

इलाहाबाद में ही भैरव प्रसाद गुप्त सादिक अली नामक एक सज्जन के संपर्क में आए, जो विश्वविद्यालय के पास ही एक मकान में कुछ विद्यार्थियों के साथ रहते थे। वे अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के कार्यालय स्वराज-भवन में काम करते थे। इन्हीं की प्रेरणा से भैरव प्रसाद गुप्त राजाजी-राजगोपालचारी के साथ मद्रास पहुँचे और वहाँ हिन्दी प्रचारक महाविद्यालय में अध्यापन करने लगे। उस समय राजगोपालाचारी मद्रास के मुख्यमंत्री थे और उन्होंने मद्रास के सभी स्कूलों में हिन्दी को एक अनिवार्य विषय बना दिया था। हिन्दी प्रचारक महाविद्यालय में हिन्दी अध्यापकों को दीक्षा दी जाती थी। सन् '40 में मद्रास आ जाने के समय ही भैरव प्रसाद गुप्त का विवाह हो चुका था। मद्रास और त्रिचिनापल्ली का यह प्रवास भैरव के जीवन में अनुभव-सम्पन्नता की दृष्टि से बेहद फलदायी सिद्ध हुआ। अपने पहले उपन्यास *शोले* में तो उन्होंने इस परिवेश का सर्जनात्मक उपयोग किया ही, मरणोपरांत प्रकाशित उनके *एक छोटी-सी शुरूआत* में सरल के रूप में जैसे उन्होंने अपने ही उस दौर के जीवनानुभव को कथाबद्ध करने का प्रयास किया है।

गाँधी जी के आंदोलन में रचनात्मक सहयोग दे पाने के विचार से ही भैरव प्रसाद गुप्त राष्ट्रभाषा प्रचार में लगे थे। लेकिन उन्हें आंदोलन में सक्रिय भाग लेने की अनुमति नहीं थी। सन् '42 के आंदोलन के दिन थे और डाक विभाग की गड़बड़ी के कारण घर से कोई समाचार न आने से भैरव चिंतित थे। गर्भवती पत्नी को वे गाँव छोड़ आए थे। उन्हीं दिनों अख़बार से उन्हें मालूम हुआ कि बलिया में आंदोलन अपने शिखर पर था। वहाँ के ज़िलाधिकारी ने चिन्तू पांडे को अपना इस्तीफ़ा सौंप दिया था। प्रशासन जैसी कोई चीज़ नहीं रह गई थी। जेल के फाटक खोल दिए गए थे और खजाने को जनता में बांट दिया गया था। थानों को जला दिया गया था और ब्रिटिश शासन के ख़त्म कर दिए जाने की घोषणा कर दी गई थी। लेकिन फिर थोड़े दिन बाद ही दमन और जनता के उत्पीड़न के समाचार आने लगे। इसी अस्थिर और चिंतापूर्ण मनःस्थिति में एक महीने की छुट्टी लेकर भैरव गाँव के लिए चल दिए। दो दिनों के बदले जैसे-तैसे वे पाँच दिन में गाँव पहुँचे। रास्ते में उखड़ी हुई रेल की पटरियाँ और जली हुई इमारतें इस आंदोलन की साक्षी थीं। रात में जब वे घर पहुँचे तो गाँव में मरघट जैसा सन्नाटा था और उनका घर बिना दरवाज़े के खुला

पड़ा था। माँ उन्हें आया देखकर चिंतित थीं और हड़बड़ाहट में उन्हें धकेलकर उल्टे पाँव लौट जाने को कहा। इसके बाद वे अपने दोस्त मुहम्मद ऐनुद्दीन के यहाँ पहुँचे। उसका सवाल भी वही था, जो माई का था। वहीं खा-पीकर और दोस्त के कपड़े बदलकर वे कानपुर को चल दिए। गाँव में पुलिस द्वारा बरपाये गए क़हर की सूचना उन्हें बाद में धीरे-धीरे ही मिल सकी थी।

इस नाटकीय परिस्थिति में भैरव प्रसाद गुप्त का कानपुर आना कई दृष्टियों से उनके भविष्य का एक निर्णायक मोड़ माना जा सकता है। उनका दोस्त ऐनुद्दीन भी उनके साथ आया था। दोनों को ही वहाँ आर्डिनेंस डिपो में नौकरी मिल गई। कानपुर एक औद्योगिक नगर होने के कारण आस-पास के गाँवों के बहुत मज़दूर वहाँ थे। धीरे-धीरे अपने गाँव के मज़दूरों से उनका सम्पर्क हुआ और बाद में परिचय का यह दायरा बढ़ता गया। यहीं वे मज़दूर नेता अर्जुन अरोड़ा के सम्पर्क में आए। अर्जुन अरोड़ा की प्रेरणा से उन्हें बेग सदरलैंड में नौकरी मिल गई और आर्डिनेंस डिपो वाली नौकरी उन्होंने छोड़ दी। इस दौरान उनकी कविताएँ और कहानियाँ निरन्तर पत्र-पत्रिकाओं में छप रही थीं। यहीं से सन् '44 में वे माया प्रेस, इलाहाबाद में चले गए। कानपुर-प्रवास और मज़दूरों से अपने निकट सम्पर्क को आधार बनाकर इलाहाबाद में ही उन्होंने अपना उपन्यास *मशाल* लिखा।

सन् '46 में उनके साथ घटी त्रासदी ने जैसे उन्हें तोड़ दिया। क्षय रोग से उनकी पत्नी का देहांत हो गया। वस्तुतः उनके किसी आत्मीय की यह पहली मौत थी, जिसे उन्होंने इतने निकट से देखा था। विक्षिप्त जैसी अवस्था में वे अकेले ही उनके फूल बहाने काशी गए। परिवार की स्थिति दयनीय थी। बड़े भाई की मृत्यु हो चुकी थी। मँझले भाई राजनीतिक बंदी के रूप में लंबी सज़ा पाकर जेल में थे। घर में बूढ़े माँ-बाप विधवा भाभी और तीनों भाइयों के छोटे-छोटे बच्चे थे।

भैरव प्रसाद गुप्त अपने अन्य अनेक समकालीनों की तरह आर्य समाज और गाँधीवादी राजनीति की राह से वामपंथी राजनीति की ओए आए थे। सन् '48 में, पी. सी. जोशी के प्रोत्साहन पर वे कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य बने। कम्युनिस्ट विचार और राजनीति के लिए वे बुरे दिन थे। वे प्रतिबंध, दमन और उत्पीड़न के दिन थे। लेकिन इन्हीं कठिन-दिनों में भैरव ने इप्टा का अखिल भारतीय सम्मेलन इलाहाबाद में आयोजित किया जिसमें प्रायः सभी प्रदेशों की टीमें सम्मिलित हुई थीं और सम्मेलन चार दिन चला था। अमर शेख़, प्रेम धवन और बलराज साहनी आदि की इसमें सक्रिय हिस्सेदारी थी। इसी सम्मेलन में बलराज साहनी ने अपना नाटक *खाली कुर्सी की बातें* किया था और शैलेन्द्र ने 'नेहरू के नाम

एक मज़दूर की चिट्ठी' नामक अपनी कविता का पाठ किया था।

सन् '53 में प्रगतिशील लेखक संघ के राष्ट्रीय सम्मेलन से पूर्व भैरव प्रसाद गुप्त ने इलाहाबाद में ही प्रादेशिक सम्मेलन आयोजित किया। इसमें डॉ. रामविलास शर्मा की संकीर्णतावादी निरंकुश नीतियों की खुलकर आलोचना की गई। इस संदर्भ में टिप्पणी करते हुए भैरव प्रसाद गुप्त लिखते हैं, "रामविलास ने राहुल, पंत, यशपाल, शिवदान सिंह चौहान और रांगेय राघव पर जो लेख लिखे, उनका परिणाम सामने आया। सबसे बड़ी बात तो यह हुई कि रामविलास संगठन के जनतांत्रिक ढाँचे को नज़रन्दाज़ कर एकमात्र निरंकुश नेता बन गए। वे 1947 से 1953 तक प्र. ले. सं. के महामंत्री रहे और इस बीच उन्होंने न तो राष्ट्रीय कार्यकारिणी की एक मीटिंग की और न परिषद् की। स्वयं फ़रमान ज़ारी करते रहे..." (वही, पृ. 27)

रामविलास शर्मा की इन नीतियों के कारण ही संगठन में विघटन हुआ और नरेश मेहता, नेमिचंद्र जैन, शमशेर और विश्वनाथ नरवणे जैसे कई महत्त्वपूर्ण साथी संगठन से बाहर हो गए। इसी विघटन का सबसे दुर्भाग्यपूर्ण पहलू यह था कि अनेक महत्त्वपूर्ण प्रगतिशील कवि प्रयोगवाद और 'परिमल' के साथ हो लिये। इन निरंकुश और संकीर्णतावादी नीतियों का व्यापक और दूरगामी प्रभाव हुआ और फिर सारे प्रयत्नों के बावजूद संगठन को पुनर्जीवित नहीं किया जा सका।

'प्रगतिशील लेखक संघ' की लंबी और निराशाजनक निष्क्रियता के बाद 1982 में 'जनवादी लेख संघ' का गठन हुआ। इसके पहले अध्यक्ष भैरव प्रसाद गुप्त ही थे। जिस प्रकार सन् '64 में 'कम्युनिस्ट पार्टी' के दुःखद विभाजन के बाद वे 'मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी' में आ गये थे, उसी प्रकार जनवादी लेखक संघ का निर्माण भी एक लंबी रचनात्मक हताशा का परिणाम था। भैरव प्रसाद गुप्त यहाँ भी उन शक्तियों के साथ थे, जो साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में परिवर्तनकामी तत्त्वों को संगठित करके कोई नई पहल करना चाहती थीं। जनवाद, भारतीय समाज में, किसान-मज़दूरों अर्थात् सर्वहारा की चिंता को विस्तार देकर उन सारे लोगों को साथ लेकर चलने को प्रतिश्रुत था, जो सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा से प्रेरित होकर प्रतिगामिता और यथा-स्थितिवाद के विरोध में सक्रिय थे। इसीलिए वैचारिक स्तर पर जनवाद यदि सामंतवाद, साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के विरोध की विचारधारा थी, वहीं साहित्य और कला के क्षेत्र में वह अस्तित्ववाद के जनविरोधी और व्यक्तिवादी विचार-दर्शन को सामाजिक और वैज्ञानिक विकास के प्रमुख अवरोधक तत्त्व के रूप में देखता था।

भैरव प्रसाद गुप्त सन् '48 में कम्युनिस्ट पार्टी में आए थे और सारे विघटन और विभाजन के बाद वे हमेशा उसमें बने रहे। वे गहरी निष्ठा और समर्पण में विश्वास रखनेवाले लेखक थे, इसीलिए पार्टी और विचारधारा से कोई और कैसा भी विचलन उन्हें दूर तक प्रभावित करता था। ऐसे प्रसंगों में, किंचित् आवेश के साथ, वे अपनी त्वरित प्रतिक्रिया भी व्यक्त करते थे। हंगरी में सोवियत हस्तक्षेप के विरोध में जब निर्मल वर्मा की, बाद में *हर बारिश में* संकलित होने वाली टिप्पणियाँ पत्र-पत्रिकाओं में छप रही थी तो उन्होंने 'जी हाँ, अंधेरे के ख़िलाफ़' शीर्षक से अपनी उग्र प्रतिक्रिया व्यक्त की थी। लूकाच और हरिशंकर परसाई के पूरे योगदान की चिंता किए बिना उन लोगों के विरुद्ध भी उन्होंने लिखा। उनके लिए रचना और विचार के बीच किसी प्रकार की फाँक स्वीकार्य नहीं थी। जो आप मानते और विश्वास करते हैं, उसे रचना में आना ही चाहिए क्योंकि रचना ही लेखक की पहचान का मुख्य, मूल और प्रामाणिक स्रोत है। इसीलिए उनके अधिकांश नायक उनके विचारों, विश्वासों और जीवन-दर्शन को जीने वाले लोग हैं। उनके आदर्शों, संघर्षों और सामाजिक सक्रियता को उनके सर्जना की मूल्य-दृष्टि के रूप में पढ़ जाने की सुविधा और छूट हम ले सकते हैं। अपनी विचारधारा और उसकी प्रतिनिधि पार्टी को लेकर उनकी टिप्पणी है, "इस बात को इस तरह भी कहा जा सकता है कि मैं अपनी पार्टी, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी और उसके आंदोलनों के साथ अपने लेखन के माध्यम से ही जुड़ा हूँ और कुछ इस तरह कि उन्हें अलग-अलग करके नहीं देखा जा सकता। जब कोई भी किसी को मार्क्सवादी लेखक कहता है, तो उसका मतलब भी यही होना चाहिए..." (वही, पृ. 37)

भैरव प्रसाद गुप्त ने एक लंबा, संघर्षपूर्ण और सक्रिय जीवन जीया, जिसमें टूटने की चिंता किए बिना अनथक संघर्ष का महत्त्व ही सर्वोपरि था। उनके उपन्यास *धरती* के नायक मोहन की तरह उनके कार्यों के लिए चुना गया क्षेत्र ही वस्तुतः उनकी धरती थी। विषम और तोड़ देनेवाली स्थितियों के बीच एक अनथक निष्ठा के साथ, इसी धरती में वे आगे की पीढ़ियों के लिए संभावना और आस्था के बीज बोते रहे।

उनका निधन अलीगढ़ में, अपनी बेटी के यहाँ, 7 अप्रैल 1995 को हुआ।

जब किसी लेखक के संदर्भ में आस्था, निष्ठा और मूल्य-दृष्टि की बात कही जाती है तो यह देखना-समझना भी ज़रूरी हो जाता है कि आज व्यक्तिवादी, उपभोक्ता-संस्कृति के इस चरम दौर में ऐसी कोई शक्ति उसे कहाँ से हासिल होती है, जो इन विषम परिस्थितियों में उसे हताशा और विचलन से बचाती है?

अपने परिवार के लिए वे कुछ अधिक नहीं कर सके—सिवाय जैसे-तैसे इलाहाबाद में एक मकान बनवा सकने के। सारे परिश्रम और समझ के बावजूद कहीं वे जमकर नौकरी नहीं कर सके क्योंकि अपनी निष्ठाओं और विचारों से समझौता करके जीवित रहने वाले व्यक्ति वे नहीं थे। इसी अप्रिय स्थिति से बचने के लिए उन्होंने अपना प्रकाशनधारा प्रकाशन, इलाहाबाद भी शुरू किया जहाँ से वे अपनी ही पुस्तकें छापते थे। लेकिन उनकी बिक्री और वितरण के सवाल पर वे अधिक कुछ कर सकने की स्थिति में नहीं थे। प्रकाशन का जो तंत्र पिछले कुछ दशकों में हिन्दी में विकसित हुआ, सरकारी ख़रीद और राजनीतिक संरक्षण का तंत्र जिसमें भ्रष्ट नौकरशाही की मुख्य भूमिका है, उसके कारण अब प्रकाशन में नैतिक आग्रहों की ज़मीन सिकुड़ती गई है—बहुत-कुछ हमारे समय की राजनीति की तरह ही। इसीलिए अंत तक उनकी पुस्तकें दूसरे प्रकाशनों से छपती रहीं और आज उनका बेटा जय प्रकाश अपना प्रकाशन चलाने की बजाय एक दूसरे प्रकाशक के यहाँ मामूली-सी नौकरी करने को विवश है।

भैरव प्रसाद गुप्त बलिया की ग्रामीण पृष्ठभूमि से आगे की पढ़ाई के विचार से इलाहाबाद आए थे। इलाहाबाद तब अपने राजनीतिक-साहित्यिक परिवेश के कारण युवा-पीढ़ी के लिए प्रेरणा और उर्जा का अक्षय स्रोत बना था। प्रेमचंद से हुई उनकी प्रथम भेंट का उल्लेख किया जा चुका है। कवियों में उन पर निराला के प्रभाव की चर्चा प्रायः ही की जाती रही है। निराला का दुर्द्धर्ष संघर्ष उनकी अपनी सर्जन-यात्रा में उन्हें हमेशा प्रेरणा देता रहा। इलाहाबाद में, चौथे दशक के मध्य में ही, उन्होंने साहित्य और राजनीति के प्रति अपनी वह दृष्टि अर्जित की जो उनके रचना-कर्म का मूलाधार बनी। उनके व्यक्तित्व के निर्माण में बोरिस पेलबोई के *असली इंसान*, निकोलाई ऑस्त्रोव्स्की के *अग्निदीक्षा* और गोर्की के *माँ* का विशेष प्रभाव लक्षित किया जा सकता है। इन उपन्यासों के नायकों की भांति अपने लक्ष्य के प्रति अडिग रहकर समर्पण और निष्ठा की दीक्षा उन्होंने ली।

भैरव एक प्रतिबद्ध लेखक थे। उनके लेखन का लक्ष्य सामाजिक रूपांतरण था। वे जीवन-भर एक वर्गहीन समाज के निर्माण को समर्पित लेखक का उदाहरण बने रहे। सामाजिक विज्ञान और द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन के अध्ययन से उन्होंने जो विश्व-दृष्टि अर्जित की थी उसने उन्हें इस सच्चाई तक पहुँचने में सहायता की थी कि यह सामाजिक विषमता ही मनुष्य के दुःख का मूल कारण है। इस वैषम्य का कारण उत्पादन के साधनों और वितरण-प्रणाली पर पूँजीपति वर्ग का एकाधिकार है। इस एकाधिकार को नष्ट किए बिना जनमुक्ति की राह

अवरुद्ध ही बनी रहेगी। एक लेखक के रूप में वे इसी सामाजिक रूपान्तरण की दिशा में सक्रिय दिखाई देते हैं। अपने समय के मध्यवर्गीय अंतर्विरोधों से वे भी पूरी तरह मुक्त नहीं हैं। वैचारिक संघर्ष में और दूसरों को ग़लत मानकर हमेशा अपने को ही सही मानने की प्रवृत्ति का अभाव उनके यहाँ भी नहीं है। लेकिन किसी का भी सैद्धान्तिक विचलन उन्हें गहराई से विचलित करता था और उस विचलन के विरूद्ध उनकी प्रतिक्रिया त्वरित आवेग की थरथराहट से भरी होती थी।

भैरव प्रसाद गुप्त अड़ियल किस्म के आदमी के रूप में जाने जाते थे। थोड़ा झुककर या बचकर समय को निकल जाने देने वाला स्वभाव उनका नहीं था। जैसाकि सुना गया, 'नई कहानियाँ' वाली उनकी नौकरी तो सिर्फ़ एक कहानी छापने के मुद्दे को लेकर समाप्त हुई। लेकिन उनके लिए यह सवाल एक कहानी छापने न छापने से बहुत बड़ा था। उनके लिए यह संपादक के क्षेत्र में मालिक के हस्तक्षेप का सवाल था, जो उन्हें किसी भी रूप में बर्दाश्त नहीं था। एक ज़माने में जब व्यावसायिक बनाम लघु पत्रिकाओं का विवाद हिन्दी में अपने शिखर पर था, लोगों ने इस बात के लिए भैरव प्रसाद गुप्त को कटघरे में खड़ा करने की कोशिश की कि वे अपनी कहानियाँ इन व्यावसायिक पत्रों को क्यों देते हैं? एक तरह से यह उनकी दुखती रग को छूना और दबाना था। इससे वे अंदर तक विचलित हुए थे और फिर जैसे सामने बैठे लोगों को उत्तर न देकर वे अपने को ही उत्तर दे रहे थे... "आप लोग हमें कटघरे में खड़ा करके जूता लगाना चाहते हैं। आपको छूट है, खूब सुविधा है कि किसी को कुछ भी कहें... जो मन में आए... आप लोग बहुत भाग्यशाली हैं... बँधी नौकरी करते हैं, स्थायी, वक्त पर पैसा पाते हैं, सुरक्षित हैं... बढ़-चढ़कर क्रांतिकारी बातें कर सकते हैं। हम लोगों की स्थिति की आप कल्पना नहीं कर सकते। आप नहीं जान सकते कि आज के ज़माने में लेखक बनकर जीना और स्वाभिमान तथा अपने विश्वासों के साथ जीना कितना कठिन और भीषण संघर्ष है। मैं मसिजीवी लेखक हूँ, पत्रिकाओं में लिखकर, अपनी किताबें छाप या छपवाकर उन्हें बेचकर जीविका चलाता हूँ। एक-एक पैसा कैसे आता है, यह मैं जानता हूँ। आप कहेंगे यह समझौतापरस्ती है, सिद्धांत-हीनता है। लेकिन आप लोग शायद नहीं जानते कि अपने विश्वासों और स्वाभिमान के लिए हमने बड़े-से-बड़े 'ऑफर' ठुकराए हैं। और यदि समझौता किया होता तो ऐसी कोई चीज़ नहीं थी, जो हम पा नहीं सकते थे। जिन लोगों को पत्रिका निकालने तक का कोई अनुभव नहीं था, वे व्यावसायिक पत्रिकाओं, सरकारी संस्थानों में ऊँचे पदों पर मोटी तनख़्वाह पाते

हैं और ऐश करते हैं। हमने अपने को नहीं बेचा, लेखन में कोई समझौता नहीं किया, कभी किसी के सामने नहीं झुके। हमारी कहानी माँगना और छापना उनकी मजबूरी है। वे हमारे लेखन के प्रशंसक नहीं हैं लेकिन उनके पास कोई चारा नहीं है। अपनी शर्तों पर अपनी रचना देते हैं..." (*भैरव जी के व्यक्तित्व के कुछ पहलू* : कर्णसिंह चौहान, वही, पृ. 43)

भैरव प्रसाद गुप्त कॉफ़ी-हाऊस में बैठकर सिर्फ़ बहसों और विवादों द्वारा सामाजिक परिवर्तन की भूमिका रचनेवाले बुद्धिजीवी नहीं थे। नई कहानी के आंदोलन को वे हिन्दी कहानी में प्रेमचंद की परम्परा से जोड़ने पर बल देते थे और भरसक इसके लिए उन्होंने संघर्ष भी किया। किसी क़दर एक एकांगी अभिमत होने के बावजूद कविता की आलोचना को वे कुछ संपादकों और आलोचकों के बौद्धिक चोंचले के रूप में देखते थे। कहानी को केंद्रीय विधा के रूप में स्वीकृति के लिए, एक संपादक के रूप में, उन्होंने अनथक संघर्ष किया--यह अलग बात है कि बाद में इसका श्रेय उन लोगों को मिला जो नई कहानी के आंदोलन को हथिया लेने में सफल हुए थे।

भैरव प्रसाद गुप्त परिवार की छाँह में बैठकर संघर्ष की उर्जा प्राप्त करने वाले लेखक थे। अपनी व्यक्तिवादी और कुंठित सोच के कारण घर और परिवार के मोर्चों पर असफल होकर, इस दौर में, अनेक लेखक एक ओर यदि सामाजिक संस्था के रूप में विवाह की व्यर्थता घोषित कर रहे थे तो दूसरी ओर सार्त्र और सिमोन द बोऊआ के उदाहरण से मित्र और सखी-भाव से संबंधों को नये रूप देने की कोशिश कर रहे थे। यह वही समय था, जब भैरव प्रसाद गुप्त *सत्ती मैया का चौरा* और *धरती* में पारिवारिक ऊष्मा के आत्मीय संबंधों की वापसी के द्वारा एक संस्था के रूप में विवाह और परिवार को बचाने के संघर्ष में लगे थे। अपने साथ के अनेक लेखकों के उदाहरणों से उन्होंने जाना था कि विवाह और परिवार के प्रति किसी प्रकार का निषेधवादी रवैया अंततः एक ऐसी स्वेच्छाचारिता की ओर जाता है, जो सामाजिक विघटन को प्रोत्साहित करके समाज की नींव को कमज़ोर करता है। वे परिवार से शुरू करके देश और समाज की ओर बढ़नेवाले लेखक थे। लेकिन परिवार की उनकी यह चिंता कैसे भी परिवारवाद से भिन्न थी, जिसकी अनेक विकृत परिणतियाँ आज की राजनीति में आसानी से फूलती-फलती देखी जा सकती हैं।

भैरव प्रसाद गुप्त का रचना-कर्म स्वाधनीता से पूर्व ही शुरू हो चुका था। उनका रचना-समय स्वाधीनता आंदोलन के उत्कर्ष का दौर है। चौथे दशक में इलाहाबाद इन साहित्यिक-राजनीतिक गतिविधियों का एक प्रमुख केंद्र था। अप्रैल

'36 में प्रगतिशील लेखक संघ का गठन इसी काल की एक ऐतिहासिक घटना है, जिसकी अध्यक्षता प्रेमचंद ने की थी। एक ओर यदि उन्हें प्रेमचंद और उनकी पीढ़ी के अनेक लेखकों को निकट से देखने-समझने का अवसर मिला, वहीं उनकी परवर्ती पीढ़ी—उग्र, जैनेंद्र, यशपाल, अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा और अश्क आदि के साथ काम करने का अवसर भी मिला था। नई कहानी आंदोलन के अनेक लेखकों को बनाने-संवारने का श्रेय उन्हें है—यद्यपि इन लेखकों से उनके संबंध अपनी प्रकृति में पर्याप्त द्वन्द्वात्मक थे। एक परिवार के मुखिया की तरह प्यार, संरक्षण और खीज के विभिन्न रूपों में इन संबंधों को समकालीन साहित्यिक परिदृश्य पर फैलते देखा जा सकता है।

अपनी सारी सीमाओं और विघटन के बावजूद उन्होंने हिन्दी क्षेत्र में कम्युनिस्ट आंदोलन को बनते-बिगड़ते देखा था। उसी से जुड़ी संस्थाओं और संगठनों—प्रगतिवादी लेखक संघ और इप्टा में रहकर एक लंबे समय तक उन्होंने कार्य किया। वे पार्टी और संगठन के निरंकुश और जनतंत्र विरोधी रवैये के विरोधी थे। बी. टी. रणदिवे और रामविलास शर्मा के कार्यकाल में संकीर्णतावादी और जनतंत्र विरोधी रवैये से हुए नुक़सान पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा है, "इस संकीर्णता तथा निरंकुशता का परिणाम यह हुआ कि प्र. ले. सं. तेज़ी से टूटने लगा। इलाहाबाद में जहाँ उर्दू-हिन्दी के सौ से अधिक लेखक प्र. ले. सं. में थे, अब पन्द्रह-बीस रह गये। ये हमारे लिए बहुत कठिन दिन थे। हम लेखकों का विश्वास खो चुके थे। हमने 'नया साहित्य' फिर इलाहाबाद से निकाला। अमृत राय ने 'हंस' को भी पुनर्जीवित किया और शांति विशेषांक भी निकाला। लेकिन कोई लाभ न हुआ। प्रयोगवादियों का हमला तेज़ हो गया। हमारे कई साथी नरेश मेहता, नेमिचंद्र जैन, शमशेर बहादुर सिंह, नरवणे आदि ने पार्टी से अपना संबंध तोड़ लिया, उर्दू के लेखक एकदम अलग हो गए और प्रायः सभी प्रगतिशील कवि अपना रास्ता छोड़कर प्रयोगवादियों की तरह भाषा, रूप और शिल्प का कमाल दिखाने लगे..." (*मेरी साहित्य यात्रा*, लेखन—3/4, पृ. 27-28)

एक लेखक, संपादक और उत्साही संगठन-कर्ता के रूप में यह संतोष भैरव प्रसाद गुप्त को अवश्य रहा कि कई परवर्ती पीढ़ियों को बनाने-सँवारने का अवसर उन्हें मिला। संगठन और विचार के लिए बुरे-से-बुरे दौर में भी किसी प्रकार की तटस्थता में उनका विश्वास नहीं था। उनके लिए बीच का कोई रास्ता नहीं था। बीच के रास्ते को वे एक अवसरवादी परिणति के रूप में देखते थे, जो अन्ततः व्यक्ति और संगठन दोनों के लिए नुक़सानदेह होती है। किसी भी रणनीति की उनकी सफलता की कसौटी संगठन और विचार के लिए उसकी उपयोगिता में

निहित थी। यही कारण है कि संगठन के अंदर छोटा-सा विचलन भी उन्हें असह्य था और उसकी प्रायः हमेशा वे बहुत आवेगपूर्ण प्रतिक्रिया करते थे। लेकिन यह किसी को आश्चर्यजनक लग सकता है कि संगठन को इतना महत्त्व देनेवाला व्यक्ति भी जीवन-भर लेखक की व्यक्तिगत लड़ाई लड़ता रहा। उनकी यह लड़ाई लेखक को संगठन के एक पुर्ज़े में बदलने से बचाने के लिए लड़ी गई, क्योंकि वे कैसी भी सेंसरशिप और रेजिमेंटेशन के विरुद्ध थे, जो लेखक की अपनी स्वतंत्रता पर कुठाराघात करती है। अपने संदर्भ में इस स्वतंत्रता का महत्त्व समझकर ही वे दूसरों के संबंध में इसका महत्त्व समझ सके थे।

उपन्यास

भैरव प्रसाद गुप्त ने जब अपनी रचना-यात्रा शुरू की, सन् '46 में *शोले* से, तब हिन्दी में प्रगतिवादी आंदोलन अपने पूरे उत्कर्ष पर था। वैसे इसके पूर्व कहानियों का उनका एक संग्रह छप चुका था, लेकिन वस्तुतः *शोले* से ही उन्होंने अपनी पहचान बनाई। हिन्दी-उर्दू लेखकों में उनके प्रेरणा-पुरुष प्रेमचंद थे और सोवियत लेखकों में उन्होंने मैक्सिम गोर्की सहित उन अनेक लेखकों को पढ़ा था जिन्होंने सोवियत-संघ के निर्माण में एक कर्मठ और क्रियाशील नायक का मॉडल प्रस्तुत किया था—बहुत-कुछ बोरिस पोलबोई के *ए स्टोरी एबाउट ए रियल मैन* और निकोलाई आस्त्रोव्स्की के *हाउ द स्टील वाज़ टैम्पर्ड* के कथा-नायकों के रूप में उनके द्वारा पढ़े गए लेखकों में संभवतः वे सोवियत लेखक भी शामिल थे—इलिया ऐहरनवर्ग, कांस्तेंतिन फेदिन और अलेक्सी तोल्स्तोय आदि जो दूसरे विश्व युद्ध में हिटलर के फ़ासिस्ट आक्रमण के विरुद्ध युद्ध के मोर्चे पर लड़े थे और जिन्होंने अपने वास्तविक अनुभवों को आधार बनाकर युद्ध सम्बन्धी उपन्यास लिखे थे।

हिन्दी में तब राहुल सांकृत्यायन और यशपाल ही ऐसे लेखक थे जो प्रगतिवादी आंदोलन में अपनी सुनिश्चित पहचान बना चुके थे, यद्यपि इनका भी सर्वश्रेष्ठ रचना-कर्म अभी शेष था। भैरव प्रसाद गुप्त के लगभग साथ ही जिन अन्य प्रगतिवादी लेखकों ने लिखना शुरू किया उनमें नागार्जुन और रांगेय राघव मुख्य हैं। रांगेय राघव के प्रथम उपन्यास *घरौंदा* का भी प्रकाशन *शोले* के साथ ही हुआ। सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों का जैसा दबाव था, देश स्वाधीनता की देहरी पर खड़ा था, उस सबको देखते हुए ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोध में जन-संघर्ष की उत्ताल तरंगों की गूँज दूर-दराज़ के क्षेत्रों में भी सुनी जाती थी। इसी वर्ष, सन् '46 में, बंगाल में अकाल की पृष्ठभूमि पर रांगेय राघव का *विषाद-मठ* और इसी के थोड़ा आगे चलकर सन् '47 के पूर्वार्द्ध में, अमृतलाल नागर का महाकाल

आया। थोड़ा आश्चर्यजनक लगने पर भी यह सच है कि राजनीतिक दृष्टि से इस बेहद उथल-पुथल भरे घटनापूर्ण दौर में भी भैरव प्रसाद गुप्त का *शोले* एक प्रेमानुभव को केंद्र में रखकर लिया गया उपन्यास है।

इस उपन्यास की शुरूआत बनारस में बरनदास के 'शाल्मली' आश्रम से होती है। फिर कहानी पीछे की ओर लौटती है, जिसमें बरन के बी. ए. की परीक्षा देकर लौटने पर शोभी से उसके प्रेम की कहानी शुरू होती है। अपनी सामाजिक हैसियत की श्रेष्ठता के बावजूद बरन का विवाह शोभी से नहीं हो पाता है, क्योंकि पाँच वर्ष की उम्र में ही उसका विवाह और जगह तय कर दिया गया था, अब तो उसकी तिथि भी तय हो चुकी है और सामाजिक मर्यादा की दृष्टि से इसमें किसी प्रकार का कोई परिवर्तन संभव नहीं है। उसकी ज़मींदारी के प्रबंधक दादा, जिन्होंने माँ-बाप के अभाव में उसे सचमुच बेटे की तरह ही रखा है, विवाह से पूर्व शोभी को ज़बरन उठवा लेने का सुझाव भी देते हैं, जिसे बरन स्वीकार नहीं करता।

शोभी के विवाह के बाद जब बरन अपना संतुलन खोकर भटक रहा होता है, शोभी के घर के पास ही वह उसी की शक्ल की एक बच्ची को खेलते देखता है। बाद में पता चलता है कि वह शोभी की बहन है। अपने हृदय में शोभी को जीवित रखने के विचार से वह उस बच्ची को उड़ा लेता है और दादा की सहायता से उसे लेकर वह केरल चला जाता है, ताकि किसी को किसी प्रकार का संदेह न हो।

दादा से संपर्क-सूत्र बनाए रखकर बरन केरल में बेबी के साथ रहता है। इस संबंध में भी वह बहुत सजग है कि नौकरों और आया के सामने अपने इस संबंध को क्या रूप और संबोधन दिया जाए। वह उसे अपनी मृत पत्नी की छोटी बहन बताता है, जिसके माँ-बाप नहीं हैं। वह उसे 'बेबी' और आया-नौकरों के अनुकरण में वह बरन को 'साहब' कहती है। इस प्रकार एक अन्य केरलीय परिवार के संपर्क में रहते हुए बेबी बड़ी होती जाती है। बच्ची को उठाते समय कहीं-न-कहीं बरन के मन में यही विचार था कि इस तरह जैसे वह शोभी के ही पास होगा और बच्ची के बड़ी हो जाने पर वह उससे विवाह कर लेगा—आयु के सारे अंतर के बावजूद। ज़ाहिर तौर पर बरन और बेबी के मिलन के बीच कोई बाधा भी नहीं है। लेकिन बरन ने सचमुच एक बच्ची की तरह उसे पाला-पोसा है। वह हमेशा उसके साथ ही सोती है। उससे प्रेम-निवेदन में उसे स्वाभाविक रूप से संकोच होता है। वह यह भी नहीं चाहता कि जैसे शोभी को उसके पति ने जबरन अपनी पत्नी बनाया, वही सब वह बेबी के साथ करे। बड़ी हो जाने पर भी बेबी को बरन के साथ सोने में

कोई उद्वेलन नहीं होता, जबकि उसका अंग-स्पर्श बरन को आग की तरह दाहक लगता है। बरन की भावनाओं की ओर से पूरी तरह उदासीन बनी रहकर बेबी अपने समवयस्क अनन्तम के प्रति गहरा आकर्षण अनुभव करती है और धीरे-धीरे यह पारस्परिक आकर्षण एक प्रगाढ़ प्रेमानुभूति में बदल जाता है।

अपने बेटे की इच्छा देखकर अनन्तम का पिता अय्यर भी इस विवाह के पक्ष में है। छोटे-मोटे षड्यंत्र करके भी इस संबंध को वह उसके अंतिम निष्कर्ष तक ले जाना चाहता है। इसके विरोध में बरन की दृढ़ता को देखकर वह कहता भी है, "जो प्रेम सफल होकर चाँदनी की शीतलता जीवन के कण-कण में बिखेर देता है, वही प्रेम असफल होकर हृदय में ऐसे शोले लगाकर छोड़ देता है, जो जीवन को राख करके छोड़ देते हैं..." (*शोले*, संस्करण 63, पृ. 206) इसे बरन से बेहतर और कौन समझ सकता है? लेकिन फिर भी वह एक झटके में बरसों की अपनी योजना को मिट्टी में मिलाने को तैयार नहीं हो पाता है।

शोभी ससुराल में अनेक अति नाटकीय और विडंबनापूर्ण स्थितियों के बीच से गुज़रकर फिर अपने पिता के यहाँ आ जाती है। प्रेम और समाज व्यवस्था के तनाव को लेकर लेखक लंबी-लंबी टिप्पणियाँ टाँकता चलता है, जो न तो कथा के अनिवार्य निष्कर्षों के रूप में सामने आती हैं और न ही चरित्र के विकास का अपरिहार्य अंग बनकर। समाज में स्त्री की नियति, स्त्री और पुरुष के संदर्भ में दोहरे मानदण्डों की उपस्थिति और उसकी भर्त्सना के रूप में प्रस्तुत ये टिप्पणियाँ कथानक के विकास में असंतुलन पैदा करती हैं। स्त्री की आर्थिक स्वाधीनता और उत्पादक कार्यों में उसकी भूमिका ही उसकी सामाजिक मुक्ति की राह खोल सकते हैं। लेखक का मॉडल सोवियत संघ का वर्गहीन समाज है, जहाँ उद्योग-धंधों, सहकारी उपक्रमों और कारख़ानों के विकास ने इसे संभव कर दिया है। बेटा और बेटी के अंतर के संदर्भ में ऐसी ही टिप्पणियाँ उपन्यास की कलात्मक अन्विति को तोड़ती हैं। लेखक विवाह की संस्था को ही समाप्त करके बच्चों के राष्ट्र की सम्पत्ति के रूप में विकास पर बल देता है।

उपन्यास में लेखक अपने दक्षिण प्रवास करके अनुभवों का सर्जनात्मक उपयोग करता दिखाई देता है। लेकिन फिर भी वह उसे उपन्यास की संरचना का अनिवार्य अंग बनाकर प्रस्तुत नहीं कर सका है। अनेक नाटकीय और भावुक संयोगों के बीच अंततः शोभी और बरन का मिलन होता है और यह मिलन ही बरन को बाबा बरनदास के आश्रम से फिर गृहस्थी के बीच ला खड़ा करता है। अंत में शोभी के साथ वह कन्याकुमारी की यात्रा करता है। तट पर दोनों परिवारों के पाँचों लोग उपस्थित हैं। निष्ठापूर्ण समर्पण का भाव ही प्रेम की सफलता

का मुख्य कारक है, इस संदेश के साथ ही उपन्यास समाप्त होता है।

सन '46 में *शोले* के प्रकाशन से लेकर उनके मरणोपरांत सन् '97 में प्रकाशित उपन्यास *छोटी सी शुरुआत* तक, पचास बरसों से भी अधिक की अवधि में भैरव प्रसाद गुप्त की रचना-यात्रा फैली हुई है। इस अवधि में उन्होंने प्रेमचंद की तरह ही शहरी और ग्राम जीवन पर समान अधिकार के साथ लिखते हुए स्वाधीन भारत के बहुविध और जटिल हुए यथार्थ के विश्वसनीय चित्र प्रस्तुत किए हैं। जब-जब उनके यहाँ एक ही उपन्यास एकाधिक परिवर्तित नामों से भी प्रकाशित होने के कारण उनके नामों और संख्या को लेकर कुछ भ्रम की स्थिति भी रही है। लेकिन काल-क्रमानुसार उन्हें इस रूप में रखा जा सकता है :

शोले ('46) *मशाल* ('48) *गंगा मैया* ('52) *ज़ंजीरें और नया आदमी* ('54) (बाद में यही उपन्यास '71 मे *बांदी* नाम से और सन् '82 में *आग और आँसू* नाम से प्रकाशित हुआ) *सत्ती मैया का चौरा* ('59) *धरती* ('62) *आशा* ('63) *कालिन्दी* ('63) *रम्भा* ('64), *अंतिम अध्याय* ('70) *उसका मुजरिम* ('72) (यही सन् '80 में *एक जीनियस की प्रेमकथा* के नाम से प्रकाशित), *नौजवान ('72), भाग्य देवता* ('92) *अक्षरों के आगे (मास्टर जी)* ('93) और मरणोपरांत प्रकाशित *छोटी-सी शुरूआत* ('97)

अपने दूसरे उपन्यास *मशाल* से भैरव प्रसाद गुप्त आत्म वृत्तान्त को सामाजिक-राजनीतिक राष्ट्रीय घटनाओं से जोड़कर कथानक बुनने का जो उपक्रम शुरू करते हैं, वह उनमें लगभग अंत तक बना रहता है। उनके अधिकतर नायक उनके अपने व्यक्तित्व के ही विभिन्न रूप हैं। सोवियत-साहित्य और मार्क्सवाद के सैद्धान्तिक अध्ययन से जिस भारतीय निम्न मध्यवर्गीय व्यक्तित्व का रूपांतरण होता है, वही उनके अनेक उपन्यासों में ढलता दिखाई देता है।

मशाल का नरेन गाँव छोड़कर जाने के सात वर्ष बाद वापस लौटा है। आर्थिक दृष्टि से उसकी साधनहीन और विपन्न स्थिति ही उसके बहुविध भटकाव का कारण बनती है। गोर्की और उनके नायकों की भांति ही भैरव प्रसाद गुप्त का नरेन भी घर से बाहर निकलकर जीवन की पाठशाला में ही बहुत-कुछ सीखता-पढ़ता है। घर से निकलकर महज़ एक संयोगवश ही वह ब्रिटिश सेना में भरती होकर युद्ध के मोर्चे पर भेज दिया जाता है। जापानियों द्वारा बंदी बना लिया जाने पर वह आज़ाद हिंद फ़ौज के संपर्क में आता है, जहाँ देश पर मर-मिटने की भावना उसे नई उमंगों से भर देती है। नेताजी का प्रेरक नेतृत्व और इम्फ़ाल के मोर्चे पर मिली असफलता के बाद एक बार फिर बंदी बनाया जाकर वह लाल क़िले में आ जाता है। देश की अजेय जनता का सहयोग उसमें एक नई

चेतना भरता है। इसी के परिणामस्वरूप वह तत्कालीन कम्युनिस्ट पार्टी की नीति के अनुरूप फ़ासिस्ट सहयोग के लिए नेताजी की आलोचना भी करता है।

लाल क़िले के मुक़दमे के बाद मुक्त होकर वह सबसे पहले गाँव आता है। गाँव की सीमा में प्रवेश करते ही अनेक पुराने प्रसंग उसकी स्मृति में कौंध जाते हैं। पिता की आकस्मिक मृत्यु के बाद चाचा के साथ रहना, उन्हीं की प्रेरणा से आर्य समाज के प्रचार के उसके अनुभव, पोखरे के पास बेरी के पेड़वाले घर में अलीम भैया और भाभी से जुड़ी बचपन की अनेक स्मृतियाँ... आर्य समाज के प्रचारक के रूप में भांति-भांति के गीत और भजन गाते हुए 'बुला ले मेरे मौला मदीने मुझे...' पर भाभी की टिप्पणी उसे आज भी अच्छी तरह याद है। मुसलमान होते हुए भी उन्होंने कहा था—घर है, गाँव है, अपने लोग हैं, तुम हो, मुझे मदीना जाने का कोई चाव नहीं है। और फिर उन्होंने पूछा था कि वह यह गाना किसके लिए गाता है? प्रचारक के रूप में यह एक तरह से उसके अंत की भूमिका थी। चाचा की सारी मार-पीट और डराने-धमकाने के बावजूद वह फिर कभी यह काम नहीं कर सका। स्कूल जाते हुए, बेरों के लालच में वहाँ रुकने पर यही भाभी जो उम्र में उससे कुछ ही बड़ी रही होंगी, घर के अंदर ले जाकर उसकी जेबों में बेर ठूँस दिया करती थीं। ...लेकिन सन् '42 के आंदोलन में गाँव पूरी तरह से मटिया-मेट कर दिया गया है। सिपाहियों द्वारा अलीम की हत्या के बाद उसकी पत्नी को वे लोग साथ ले जाते हैं। ग़म में पागल हुआ बूढ़ा बाप बेरी के उस ठूँठ हुए पेड़ की तरह ही वहाँ अभी जब-तब उसे दिखाई दे जाता है।

उपन्यास का दूसरा भाग इन्हीं भाभी सक़ीना की कहानी के रूप में है जो वेश्या बेला के रूप में कानपुर की एक नारकीय बस्ती में अपना जीवन बिता रही है। एक सिपाही ही उस पर तरस खाकर उसे शरण देता है। वही मंजूर रिश्ते में उसका मौसेरा भाई निकलता है। इसी मंजूर के साथ कानपुर आने पर मिल में नौकरी के इरादे से, गुण्डों के हाथ पड़कर वह उस नरककुंड में डाल दी जाती है। यहीं शकूर और मदीना के संपर्क में शकूर मंजूर मज़दूरों के बीच नया जीवन शुरू करता है। चूँकि उपन्यास में यह सारे प्रसंग सक़ीना के दृष्टि-बिंदु से वर्णित हैं, कलात्मक अन्विति की दृष्टि से यही उचित था कि वे ही प्रसंग इसमें होते, जिनकी वह स्वयं साक्षी और भोक्ता रही थी, लेकिन मज़दूरों की व्यापक गतिविधियाँ, पार्टियाँ, हड़तालें और राजनीतिक सक्रियता के अनेक दृश्य यहाँ उपस्थित हैं। इन विभिन्न गतिविधियों में मज़दूर नेताओं के लंबे-लंबे भाषण भी शामिल हैं।

अपने निजी जीवन के प्रसंगों को ही थोड़े हेर-फेर के साथ लेखक नरेन में ढाल देता है। भैरव प्रसाद गुप्त ने स्वयं इसका उल्लेख किया है कि '42 के आंदोलन में जब बलिया में स्वतंत्रता की घोषणा के बाद स्वाधीन सरकार की स्थापना की गई तो वे हिंदी प्रचारक के रूप में दक्षिण में थे। बलिया के बारे में पढ़ी-सुनी ख़बरों के बाद वह सब कुछ देखने के विचार से ही आये थे, लेकिन फिर कभी लौटकर नहीं जा सके। बाद में कानपुर आकर वे अर्जुन अरोड़ा जैसे कम्युनिस्ट नेताओं के संपर्क में आकर मज़दूर आंदोलन से जुड़ गए। *मशाल* का नरेन भी लगभग इसी तरह कानपुर के मज़दूर-आंदोलन से जुड़ता है।

अपने ही गाँव के धेनुक के साथ, बिना किसी स्पष्ट लक्ष्य के, वह कानपुर चला आता है, जैसे पहले कभी ब्रिटिश सेना में भर्ती हो गया था। यहीं कानपुर में, धेनुक के ही सम्पर्क से, वह मंजूर और दूसरे मज़दूर साथियों के संपर्क में आता है। इन्हीं मज़दूरों के बीच उसकी भेंट अर्जुन अरोड़ा, मेहर युसुफ़ और शिव शर्मा (शिव वर्मा?) आदि कम्युनिस्टों से होती है। *मशाल* में भैरव प्रसाद गुप्त ने सरलीकरण की सीमा तक जाकर मज़दूरों के सौहार्द और पारस्परिक सहयोग का आत्मीय और सजीव अंकन किया है। 'आज़ाद हिंद फ़ौज' के सिपाही के रूप में अर्जित सैद्धांतिक निष्ठा एवं दृढ़ता नरेन की सहायता करती है। वह क्रमशः एक ऐसे इंसान के रूप में ढलता जाता है जो टूट सकता है, लेकिन झुकता नहीं है। मंजूर से हुई अपनी भेंट को वह 'माँ का दूध' की संज्ञा देता है जो बच्चे के जीवन और विकास के लिए ज़रूरी होता है। अपने इस रूपांतरण के बाद वह अनुभव करता है, "आज तो आँखों के सामने वह प्रकाश फैला है, जो कभी, मौत की गोद में भी मद्धिम न होगा, आज आत्मा उस शक्ति से शक्तिमान है, जिसने न कभी हार जानी न कभी जानेगी।" (*मशाल*, संस्करण '57 पृ. 196) कानपुर में, मज़दूर साथियों के बीच काम करते हुए जैसे एक नए नरेन का प्रादुर्भाव होता है। बाद में सक़ीना भी उस नरक कुण्ड से मुक्त होकर उसे मिलती है, लेकिन फिर भाभी के रूप में ही क्योंकि उसे पत्नी के रूप में स्वीकारने का हक़ मंजूर का ही बनता है। कांग्रेस से हुआ मोहभंग, उसका वर्ग-चरित्र और चुनावी हथकण्डों का ज्ञान उसके आगे एक नई दुनिया खोलते हैं। साम्प्रदायिक सद्भाव और मज़दूर जीवन के आत्मीय अंकन की दृष्टि से *मशाल* आज भी एक उल्लेखनीय उपन्यास माना जा सकता है।

अपने उपन्यासों में भैरव प्रसाद गुप्त सामान्यतः अपने परिचित और निजी अंचल को ही अपनी कथा-भूमि की तरह इस्तेमाल करते हैं। लेकिन नागार्जुन और रेणु की तरह वे उसकी आंचलिकता पर अधिक बल नहीं देते। उनका *गंगा*

मैया उनके अपने गृह क्षेत्र बलिया के निकटवर्ती भू-भाग, पूर्वी उत्तर-प्रदेश और बिहार की सीमा पर, को केंद्र में रखकर विकसित होता है। यह दो पड़ोसी गाँवों में सामंती उत्पीड़न से मुक्ति के आह्वान की कहानी है और कथा-संगठन की दृष्टि से इसे कदाचित् भैरव प्रसाद गुप्त का सबसे सफल उपन्यास माना जा सकता है। लेखक ने एक ओर यदि गोपी और मटरू के रूप में सामंती उत्पीड़न के विरुद्ध सामाजिक परिवर्तन की शक्तियों के अंकन की कलात्मक कोशिश की है, वहीं गोपी की विधवा भाभी के रूप में रूढ़ियों और अंधविश्वास से घिरे भारतीय ग्राम-समाज के लिए भी एक बड़ी चुनौती प्रस्तुत की है। भले ही हलवाहे बिलरा के मुँह से, उसके अपने समाज में इसकी छूट का वास्ता देने के बावजूद, गोपी से भाभी के पुनर्विवाह की सलाह उतनी स्वाभाविक न लगती हो, लेकिन भाभी की ऊपरी डाँट के बाद कहीं-न-कहीं वह उसकी प्रसुप्त चेतना में सुगबुगाहट अवश्य पैदा करती है। बाद में, लगभग उसकी बात को, अपने प्रति गोपी की चिंता और प्रेम-भावना को किवाड़ की ओट से मटरू के मुँह से सुनकर उसका स्पष्ट प्रभाव उसके धूमिल और मलिन व्यक्तित्व में घटित अप्रत्याशित परिवर्तन के रूप में दिखाई देता है। उसकी ऊसर पड़ी भूमि पर जैसे सपनों की पौध अंकुराने लगती है।

गंगा के कछारी भाग में बसा मटरू उस ज़मीन पर सामंती अधिकार के विरुद्ध जन-जागरण का अभियान चलाता है और संघर्ष करता है। जेल में गोपी से हुई उसकी भेंट साझे संघर्ष के एक अटूट रिश्ते में बदल जाती है। जेल से छूटकर, गोपी का संदेश उसके परिवारजनों को देने के विचार से वह पहले उसके ही घर जाता है। उस दुखी परिवार के बीच बैठकर वह उन लोगों का भोजन करके जाने का आग्रह टाल नहीं पाता है। लेकिन विवशता में उसका यह रात्रि-विश्राम पूरी रात उसे बेचैन बनाए रहता है और वह सो नहीं पाता है... "यह दीयर की हवा की ख़ूशबू है। यह दीयर की मिट्टी की खुशबू है। यह मैया के आँचल की खुशबू है। मटरू के प्राण उन्मत्त हो उठे..." (*गंगा मैया,* संस्करण '60, पृ. 80) गंगा की कछरी धरती के प्रति मटरू का यह दुर्निवार आकर्षण ही वस्तुतः उसके लंबे संघर्ष का मूल प्रेरणा-स्रोत है। मटरू के आगे अब एक नहीं, दो मोर्चे हैं। एक में गोपी के रूढ़ियों में ग्रस्त अंधविश्वासी परिवार में भाभी और गोपी के नए संबंध की राह बनानी है और दूसरे मोर्चे के रूप में अपनी इस धरती के लिए किया जाने वाला संघर्ष है। वह बाबू से कहता भी है... "सानों यह लड़ाई चलेगी... अपनी प्यारी धरती पर जान देनेवालों से उनकी धरती छीन लेने की ताक़त किसमें है?..." (वही, पृ. 118)

उपन्यास में अंकित और वर्णित गंगा-पट्टी वाला यह भू-भाग मुक्त धरती और शोषण-विहीन व्यवस्था का प्रतीक बन जाता है, जहाँ उत्पीड़न के विरुद्ध मानवीय संघर्ष की गरिमा का सहज बरवान ही उसे अपने समय की एक उल्लेखनीय रचना में बदलता है। चिरई-सी भाभी की जान बचाने के लिए मटरू उसके भाई की भूमिका निबाहता है—जैसे लोककथा वाले इस हिरामन सुग्गे में ही उस देव जैसे मटरू की जान बसती है। परिस्थितियों के विरुद्ध एक सफल और निर्णायक संघर्ष में ही वह जीने का मंत्र तलाशता है और दीक्षा के रूप में वही अपनी मुँहबोली बहन को देता है। गोपी की लड़ाई को वह एक बृहत्तर समाज की लड़ाई में बदल देता है। यह बाप-बेटे की लड़ाई न रहकर समाज में रुढ़ियों और अंधविश्वासों के विरुद्ध लड़ी जानेवाली लड़ाई बन जाती है, जिसमें समाज की लाखों विधवाओं के लिए नए जीवन की संभावनाएँ दिखाई देने लगती हैं।

भैरव प्रसाद गुप्त का *ज़ंजीरें और नया आदमी* सामंतवादी समाज में नारी की नियति को परिभाषित करता है। भारतीय समाज में नारी-उत्पीड़न के संदर्भ भैरव प्रसाद गुप्त के उपन्यासों में बहुतायत से अंकित है। *ज़ंजीरें और नया आदमी* बाद में जिन दो भिन्न नामों से प्रकाशित हुआ—*बांदी* और *आग और आंसू*—वे भी अपने प्रतीकार्थ में नारी की इस नियति को ही संकेतित करते हैं। कलक्टर का संदेश लेकर आया हुआ दारोगा, चापलूसी के अंदाज़ में बड़े सरकार को उसे पिछली बार पेश की गई लड़की की याद दिलाता है और उसका नाम पूछता है। उत्तर में वे कहते हैं, "एक-दो हों तो नाम याद रखें। यहाँ तो मौसम बदला और नया फल..." (*बांदी,* संस्करण, '71 पृ. 21) बड़े सरकार के लिए कलक्टर का फ़रमान यह है कि वे अधिक से अधिक किसानों को बेदख़ल करें, ताकि फ़ौज में भर्ती के लिए सहूलियत हो सके। उसी फ़रमान का एक हिस्सा यह भी है कि वे स्वयं अपने बेटे लल्लन जी को कमीशन लेकर फ़ौज में जाने दें। इससे लोगों के मन में फ़ौज की नौकरी के प्रति डर दूर होगा।

उपन्यास के मूल शीर्षक *ज़ंजीरें और नया आदमी* में ये ज़ंजीरें इसी सामंतवादी व्यवस्था की हैं, बड़े सरकार जिसके आतंककारी और लाचार प्रतीक हैं। उनका आतंक रियाया के लिए है और उस आतंक की असलियत ब्रिटिश सरकार और उसके अदना प्रतिनिधियों के संदर्भ में सामने आती है। छोटी-बड़ी रियासतों में रियाया पर ढाये जाने वाले जुल्म और हवेलियों में क़ैद बांदियों का जीवन ही इस उपन्यास की मुख्य अंतर्वस्तु है। रानी पानकुंवरि अपेक्षाकृत एक बड़ी रियासत की राजकुमारी थी। लेकिन जब उसके पिता को रंजन से उसके प्रेम का पता चलता है तो रंजन से विवाह की अनुमति देने के बजाय वे जल्दी-जल्दी में अपेक्षाकृत

काफ़ी छोटी-सी रियासत में बड़े सरकार से उसका विवाह कर देते हैं। विवाह के बाद ससुराल की इस रियासत में, रानी पानकुंवरि का पूरा जीवन ही रोते बीता है। सदमे और बीमारी ने कभी उसे एक सामान्य स्त्री का जीवन नहीं जीने दिया। मायके से सखी और बहन के रूप में साथ आई दासी मुंदरी को उसे इस हालत में देखकर अपने बचपन में अपनी माई द्वारा एक रानी की सुनाई कहानी याद आती है। उस कहानी में जब रानी जंगल में रोती थी तो जंगल के पेड़ों के सब पत्ते झड़ जाते थे और चिड़िया-चुरूंग सब रोने लगते थे। कहानी सुनने के बाद रानी को अपनी कहानी भी बहुत भिन्न नहीं लगती—आख़िर वह भी एक जंगल में घिरी है।

इस हवेली में बांदी की तरह जीवन सिर्फ़ मुंदरी और उसकी तरह अन्य युवतियाँ ही नहीं बिताती हैं—बदमिया और सुनरी आदि। रानी पानकुंवरि की हैसियत रानी होने के बावजूद, उनसे बहुत अलग नहीं है। जब इस हवेली में आने पर मुंदरी अपने प्रति बड़े सरकार की नीयत को समझ लेती है तो रानी पानकुंवरि से वह कोई अपेक्षा नहीं करती। वह उससे कहती है, "यहाँ आपकी हालत जो है, मैं समझ चुकी हूँ। आप कुछ भी अपने मन का न कर सकती हैं, न करा सकती हैं। ...आप मेरी चिंता न करें। अब खुद ही कोई राह निकालूँगी..." (वही, पृ. 109) बड़े सरकार से अपने को बचाने के लिए ही वह अपने को उसी हवेली के नौकर पंगा को समर्पित कर देती है।

उपन्यास के मूल शीर्षक में व्यंजित 'नया आदमी' रानी पानकुंवरि का बेटा लल्लन जी है। बड़े सरकार के सोनपुर के मेले में जाने की सूचना मिलते ही, विवाह के कुछ ही महीने बाद, मुंदरि रंजन को इस हवेली में बुलाने की व्यवस्था करती है। संभवतः वे कुछ दिन ही पानकुंवरि के जीवन के सबसे सुखद और स्मृति में कहीं गहरे बसे रह गए दिन थे। समय से पहले आ जाने पर उस सारी योजना का पता बड़े सरकार को चल गया था और रंजन हवेली से बहुत रहस्यमय ढंग से ग़ायब हो गया था। फिर कभी पता नहीं चला कि वह जीवित है या नहीं। अनुमान की बात अलग है, बड़े सरकार द्वारा उसकी हत्या की बात हवेली के कुछ गिने-चुने लोग ही जानते हैं। लल्लन जी उसी अल्प अवधि में अंकुराया पौधा है, जिसे बड़े सरकार कभी अपने रक्त से जोड़कर नहीं देख सके। यही लल्लन जी, एक नये आदमी में रूपांतरित होकर, मुंदरी द्वारा अपनी माँ रानी पानकुंवरि की सारी रहस्य-कथा सुनकर, स्त्री की इसी सामंती नियति के विरुद्ध 'प्रेम' को एक सहज मानवीय मूल्य के रूप में स्थापित करता है। रानी पानकुंवरि का ताल्लुकेदार पिता रंजन से उसका विवाह इसलिए नहीं करता,

क्योंकि वह इस स्थिति को सहन ही नहीं कर पाता कि उसकी बेटी से कोई प्रेम करे या वह किसी को प्रेम करे। 'प्रेम' वस्तुतः सामंती समाज में एक वर्जित फल है। विश्वविद्यालय में शकुंतला के संपर्क में आने के बाद लल्लन जी प्रेम की शक्ति और आकर्षण से परिचित होता है। अपनी माँ की पीड़ा के वास्तविक स्रोतों तक पहुँचकर वह मुंदरी से अपने अनुभव के साक्ष्य पर कहता है, "यह मोहब्बत ऐसी चीज़ है मुंदरी जो ज़िन्दगी में आती है तो जैसे सब-कुछ मिल जाता है और जाती है तो..." (वही, पृ. 220) बिदेसिया के गहरे प्रभाव में 'प्रेम' की गंध लल्लन को मोहनभोग खाने के बाद सत्तू की गंध की तरह सोंधी लगती है। शकुंतला माथुर की दी गई *अन्ना केरेनिना* पढ़ने के बाद वह उसके अभाव के अवसाद को और भी बेहतर ढंग से समझ सका है। अपने प्रति सुनरी के आकर्षण को देखकर, हवेली की ज़िंदगी में जो बहुत आम बात है, वह उसे 'बहन' कहना चाहता है, लेकिन परिवेश का संस्कार उसे संकोच से जकड़ लेता है। उसके लिए लाई भेंट वह उसे देकर अपनी ओर से मुक्त भी कर देता है। *ज़ंजीरें और नया आदमी* की कहानी एक सीधी रेखा में विकसित नहीं होती। वह वर्तमान से शुरू होती है, लेकिन बीच-बीच में पात्रों के स्मृति-खण्डों के रूप में अतीत के कथा-प्रसंग उभरते चलते हैं—रानी पानकुँवरि और रंजन का प्रेम-प्रसंग, मुंदरी और पेंगा की कहानी, बड़े सरकार के 'दीवानख़ाने' के मुंदरी के अनुभव और उसकी प्रतिक्रिया में पेंगा के प्रति उसका आकस्मिक समर्पण, बड़े सरकार के सोनपुर के मेले में जाने पर हवेली में रंजन के आने और पानकुंवरि पर उसके प्रभाव आदि के प्रसंग इसी प्रकार बीच-बीच में आते रहते हैं। हवेली के षड्यंत्र और आतंक के उस माहौल में नौकरों और बांदियों का बड़बोलापन, व्यवस्था के संदर्भ में उनकी मुखर टिप्पणियों के रूप में, कथा की अन्विति को अवश्य प्रभावित करता है।

सत्ती मैया का चौरा में भैरव प्रसाद गुप्त एक ओर यदि गाँवों की मुक्ति का सवाल उठाते हैं तो दूसरी ओर वे सांप्रदायिक सद्भाव के लिए किए जाने वाले संघर्ष को भी विस्तारपूर्वक अंकित करते हैं। उपन्यास की कहानी दो संप्रदायों के किशोरों—मुन्नी और मन्ने को केंद्र में रखकर विकसित होती है। उनके नामों के इस ध्वनि-साम्य द्वारा भी कदाचित् लेखक के दो संप्रदायों के सद्भावपूर्ण निकटता को ही संकेतित करना चाहता है। मन्ने गाँव के जमींदार का लड़का है, जबकि मुन्नी एक साधारण हैसियत वाले वैश्य परिवार से है। मन्ने और मुन्नी के किशोर जीवन के चित्र सांप्रदायिक कट्टरता के विरुद्ध एक आत्मीय और अंतरंग हस्तक्षेप के रूप में अंकित हैं। सारी बाधाओं और लांछनों के बावजूद यह संबंध क्रमशः

प्रगाढ़ होता जाता है। मन्ने के ज़मींदार पिता में, जिन्हें गाँव-जवार में आदर से लोग 'मियाँ' कहते हैं, ज़मींदार और फ़क़ीर का एक अद्भुत मेल दिखाई देता है। सांप्रदायिक सद्भाव के लिए उनकी चिंता उनके चरित्र का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है और उनकी चारित्रिक दृढ़ता का परिचय कैलसिया के साथ घटी दुर्घटना में उसे समर्थन और संघर्ष में दिखाई देती है।

गाँव में सांप्रदायिक सद्भाव का उदाहरण, मुंशी जी द्वारा मन्ने को ज़मींदारी का परिचय देते हुए, हैदर अली की कहानी से मिलता है। भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में ही उत्पन्न सांप्रदायिक राजनीति की शक्तियाँ गाँव को भी प्रभावित करती हैं। सत्ती मैया के चौरे के लिए शुरू हुआ संघर्ष उन निहित स्वार्थों को निर्ममतापूर्वक उद्घाटित करता है, जो धर्म और संप्रदाय के नाम पर लोक चेतना और लोक संस्कृति के प्रतीकों को नष्ट करते हैं। अपनी सामाजिक स्थिति और वर्गचेतना के परिणामस्वरूप मुन्नी में यह राजनीतिक समझ और संस्कार बेहतर रूप में दिखाई देते हैं। गाँव में खोले गए स्कूल के संदर्भ में वह मन्ने से कहता है "...जनता में चेतना फूँके बिना गाँवों की मुक्ति कहाँ।" (*सत्ती मैया का चौरा*, संस्करण '59, पृ. 635) लेकिन गाँव की मुक्ति का यह संघर्ष अंततः किनके विरुद्ध केंद्रित होना है? इसमें एक ओर यदि अवधेश और कैलाश जैसे निहित स्वार्थ वाले लोग हैं तो वहीं स्वयं मुन्नी के कांग्रेसी भाई राधे भी शामिल हैं, जिन्हें बाक़ायदा जेल जाने का मुआवज़ा मिला है और जिनका चारित्रिक स्खलन एक तरह से उनकी पूरी पार्टी के चारित्रिक पतन के रूप में अंकित है। इन्हीं लोगों में मन्ने का चचेरा भाई जुब्ली भी शामिल है, जो पहले लीगी था और अब घोषित तौर पर कांग्रेसी है और जिसकी सबसे दुखती रग़ यह है कि वह हाक़िम से महकूम की हैसियत में आ गया है यानी ज़मींदार से एक साधारण रैयत में बदल गया है। स्कूल की राजनीति के बहाने यही लोग सत्ती मैया के चौरे को, उसकी लोक सांस्कृतिक गरिमा से बेदख़ल करके उसे सांप्रदायिक तनाव के केंद्र में बदल देते हैं। मुन्नी यह समझता है कि सांप्रदायिक संघर्ष को वर्गचेतना से ही जीता जा सकता है। अपने भाई राधे के स्थान पर सरपंच के लिए एक कोइरी का समर्थन करता है और चुनाव में सफलता के बाद वह अपने काम को बहुत गंभीरतापूर्वक अंजाम देता है। स्कूल के संघर्ष में जब मन्ने इन विरोधी शक्तियों की सक्रियता से पस्त दिखाई देता है तो मुन्नी उसे हिम्मत बँधाते हुए कहता है, "हिंदू-मुसलमान की बात कभी अपने दिमाग़ में उठने ही न दो, यह समस्या धार्मिक नहीं राजनीतिक है और सही राजनीति ही सांप्रदायिकता का अंत कर सकती है.." (वही, पृ. 605) यह सही राजनीति क्या है, इसका कुछ संकेत

गाँव में सरपंच के चुनाव में अपने कांग्रेसी भाई राधेबाबू का विरोध करके वह एक कोइरी के चुनाव द्वारा देता है। इसी राजनीतिक सक्रियता का ही परिणाम गाँव का संपूर्ण विकास है—नहर, स्कूल, उद्योग और को-ऑपरेटिव की स्थापना से जैसे गाँव का चेहरा ही बदल जाता है। अपने ऊपर हुए हमलों के बावजूद मन्ने जिजीविषा और आशावाद की उस राह को छोड़ने को तैयार नहीं है, जो उसने अपने संघर्ष से अर्जित की है। अपनी वैचारिक स्वतंत्रता के कारण कानपुर में अख़बार की नौकरी भी मुन्नी को ख़तरे में पड़ी दिखाई देती है और संभावना यही बनती है कि मुक्त होकर वह मन्ने के साथ गाँव की मुक्ति और विकास से ही अपने को जोड़कर कुछ करेगा। मानव चरित्रों के वैविध्य और व्यवहारगत विचित्रताओं की दृष्टि से *सत्ती मैया का चौरा* भैरव प्रसाद गुप्त का ही नहीं, समूचे हिन्दी उपन्यास में एक उल्लेखनीय रचना के रूप में समादृत रहा है। मन्ने का चारित्रिक स्खलन और फिर मुन्नी की प्रेरणा और अपने संघर्ष से उसकी नवीन यात्रा उसके चरित्र को विश्वसनीय बनाती है। अपने सैद्धान्तिक आग्रहों के बावजूद लेखक यांत्रिकता से अपने को बचा सका है। कभी उसका प्रिय शेर हुआ करता था :

यह सर जो सलामत है दीवार को देखूँगा,
या मैं रहूँ ज़िन्दाँ में या वह रहे ज़िन्दाँ में।

वही मन्ने क़दम-क़दम पर समझौता करता है। आम कर्मचारियों की तरह वह रिश्वत लेता है और उम्र में काफ़ी छोटी साली से इश्क़ करके अपनी पत्नी महशर की परेशानी का कारण बनता है। पारिवारिक परिस्थितियों के आगे झुकता चला जाता है। इसके विपरीत मुन्नी, मद्रास से लौटकर एक निष्ठावान और समर्पित कम्युनिस्ट के रूप में जेल से बाहर आता है। यह लगे बिना नहीं रहता कि मुन्नी को लेखक ने अपनी निजी व्यक्तित्व और संवेदना को मिलाकर गढ़ा है। अपने विषय में बताते हुए वह मन्ने से कहता है, "मैं कभी भी महत्त्वाकांक्षी नहीं रहा; धन, यश, प्रशंसा को कभी भी मैंने कोई महत्त्व नहीं दिया। पढ़ाई खत्म होने के बाद जो तकलीफ़ मैंने झेली, उसने और आश्रम के जीवन ने मुझे बिल्कुल सफ़ेद कर दिया सारी रंगीनियों को जला दिया... मैंने जीवन में जो भी ग्रहण किया है, सच्चाई से किया है। आश्रम में, जेल जीवन में, पार्टी-जीवन में और अब पत्रकारिता और लेखक के जीवन में..." (वही, पृ. 682) मन्ने की तरह चीज़ों को हल्केपन से लेने का उसका कभी स्वभाव नहीं रहा और इसके लिए वह मन्ने को फटकारता भी है। उसके बारे में हासिल जानकारी के बाद वह उससे कहता है, "यार, तुम आदमी हो कि आदमी की पूँछ? अरे, किसी

भी दिशा में तो तुम अपना जलवा दिखाओ। राजनीति में तुम नहीं आओगे, मुल्क की ख़िदमत तुम नहीं करोगे, अदीब तुम नहीं बनोगे, समाज के दक़ियानूसी ख़यालों के ख़िलाफ़ आवाज़ तुम नहीं उठाओगे, तो इतना पढ़-लिखकर इतने योग्य होकर तुम करोगे क्या?..." (वही पृ. 519) वह इस बात के लिए उसकी भर्त्सना करता है कि परिस्थितियों के अनुकूल होने की प्रतीक्षा में बैठा रहे। वह उसके हिसाबी और सुरक्षित जीवन जीने की उसकी इच्छा के लिए भी फटकारता है। सच्ची पीड़ा के साथ कही गई मुन्नी की इन बातों का अपेक्षित प्रभाव भी उस पर पड़ता है। गाँव के विकास में उसकी रचनात्मक सक्रियता से यह प्रमाणित भी हो जाता है। भैरव प्रसाद गुप्त उन थोड़े से हिन्दी लेखकों में से हैं जिन्होंने प्रेमचंद के बाद हिन्दू और मुस्लिम समाजों का चित्रण समान अधिकार के साथ किया है। एक फ़क़ीर ज़मींदार के रूप में मियाँ का चरित्र इस दृष्टि से उपन्यास की एक बड़ी उपलब्धि माना जा सकता है। वर्गगत सैद्धान्तिक आग्रहों से मुक्त, अपनी रियाया के प्रति उनका उदार और संरक्षणवादी रवैया उनके चरित्र को एक अनोखी गरिमा से भर देता है। उनके इसी रूप पर कैलसिया रीझ जाती है। मियाँ ने जैसे उसे एक नई रोशनी और ताक़त दी है। उपन्यास में स्त्री पात्र अधिक नहीं हैं, लेकिन दो का उल्लेख ख़ास तौर से किया जा सकता है—कैलसिया और महशर का। कैलसिया एक नीची समझी जाने वाली जाति की युवती है। गाँव के ही दो युवकों ने उस पर अनाचार किया है। गाँव का ज़मींदार होने के कारण उसका बाप, अपने आदमियों के साथ, मियाँ के पास आता है। उसके इरादों को परखने के बाद मियाँ उसकी लड़ाई जैसे खुद लड़ते हैं। कैलसिया के लिए बाक़ायदा डोली मँगाई जाती है, क्योंकि अब वह नीच और अछूत कैलसिया न होकर मियाँ की संरक्षिता है। उनकी मँगवाई नई धोती पहनकर अब वह जैसे एक दूसरी ही कैलसिया है। मियाँ से हासिल ताक़त से वह अपने लिए नई राह गढ़ती है। मुद्दत बाद मन्ने से कलकत्ता में उसकी भेंट होती है और मियाँ के बेटे के नाते से वह सचमुच एक माँ की ममता से उसकी देखभाल करती है। उसके आगे अपने मन की गाँठ खोलते हुए वह कहती है... "आज अपने मन का चोर आपके सामने निकालने की हिम्मत कर रहे हैं, आपको बुरा लगे तो माफ़ी दीजियेगा... जब भी हम आपको देखते थे, तो एक ही बात मन में उठती थी कि आप ही की तरह हमें एक बेटा मिल जाता। चमार घर में पैदा होकर भी हम ऐसा सोचते थे बाबू। और अगर मियाँ ज़िंदा रहते... कहते-कहते उसकी आँखों से टप-टपकर आँसू टपकने लगते हैं..." (वही, पृ. 409) अपमानित होकर वह न तो आत्महत्या करती है और न ही इस अपराध-बोध को लेकर

जीती है। अपने संघर्ष से वह गाँव से निकलकर कलकत्ता तक पहुँचती है और अपना घर बसाकर आज अच्छी सामाजिक हैसियत में है। मियाँ से अनजाने ही उसे जो मिलता है, उसकी कभी कल्पना नहीं कर सकती थी। इसी से वह इतनी अभिभूत हो जाती है और प्रेरणा का दीया हमेशा उसे आलोकित करता रहता है।

महशर मन्ने की पत्नी है। मन्ने के विचलन के दौर में वह अपनी वास्तविक धातु में उपस्थित दिखाई देती है। अपनी छोटी बहन आयशा से पति के प्रेम-प्रसंग की बात मालूम होने पर अपने माँ-बाप पर दबाव डालकर आनन-फ़ानन वह उसका विवाह हाफ़िज़ से करवा देती है। डोली लेकर वह ख़ुद गोरखपुर जा पहुँचती है। मायके से वह मन्ने को बरतन तक नहीं मँगवाने देती। स्वयं अपना खाना बनाकर वह अख़बार पर पति के लिए परोसती है। वह बेहद स्वाभिमानी स्त्री है, जो माँ-बाप से इसलिए ख़फ़ा है कि वे उसका विवाह मन्ने से करके अपने हाथ धो लेना चाहते थे। पति की माफ़ी और पश्चात्ताप के बाद भी वह शांत नहीं होती...", चैन मेरी क़िस्मत में कहाँ?, भभककर महशर बोली, 'जिस तरह तुमने मेरा कलेजा भूना है उसी तरह तुम्हारा भी न भूना तो बंदी का नाम महशर नहीं। अब यह आग सारी ज़िंदगी बुझने की नहीं। इसी में जलकर मुझे राख होना है और इसी में जलाकर तुम्हें भी राख बनाना है।...' और महशर आँख पर दुपट्टा रखकर सिसकने लगी..." (वही पृ. 506) लेकिन मुन्नी की सहायता से वह इस सिसकन और प्रतिहिंसा से बाहर आती है। मुस्लिम समाज में परदे के चलन को तोड़कर न सिर्फ़ वह मुन्नी के सामने आकर उससे बात करती है, उसे पत्र भी लिखती है। मन्ने के विचलन का दौर समाप्त होने पर जब वह गाँव के विकास और निर्माण से जुड़ता है, स्कूल, सहकारिता और सांप्रदायिक सद्भाव आदि तो महशर एक आदर्श पत्नी और साथी के रूप में भरसक उसकी सहायता करती है—अपने घर की सीमाओं के भीतर है। व्यक्तित्व के रूपांतरण में विचार की क्या और कैसी भूमिका होती है, महशर अपने चरित्र से इसे स्पष्ट करती है।

वैसे तो हर लेखक अपनी रचनाओं में अपने जीवन का उपयोग कच्चे माल की तरह करता है, लेकिन कथा को आत्म वृतांत के रूप में ढालने और विकसित करने की यह प्रवृत्ति भैरवप्रसाद गुप्त में कुछ अधिक ही है। एक जुझारू व्यक्तित्व और न्याय के लिए संघर्ष की दुर्धर्ष प्रवृत्ति उनके अनेक कथा नायकों में दिखाई देती है। यह भी अकारण नहीं है कि उनके अनेक कथानायक इसी संघर्ष के ताप में ताए किसान परिवार से आए युवक हैं, जो अपने वैचारिक संघर्ष और रचनात्मक क्षमताओं से अपने व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। उनके

उपन्यास *धरती* का मोहन भी एक ऐसा ही नायक है। अपने बचपन के अनेक प्रसंग लेखक ने जैसे मोहन के रूप में पुनः जीए हैं। बचपन में साथियों के बीच खेलते हुए, आँधी आ जाने पर भागने पर, नीमस्तीन खो जाने पर माँ द्वारा की गई पिटाई ऐसे प्रसंगों में सिर्फ़ एक साधारण-सा उदाहरण है। गाँव में पले-बसे इसी मोहन के कथा-वृतांत के रूप में उपन्यास विकसित हुआ। पत्नी शशि और बच्चों के साथ मोहन इलाहाबाद में रहता है। लेखन की आकाश-वृत्ति परिवार के लिए बिलकुल नाकाफ़ी है। नौकरी अधिक समय तक निभ नहीं पाती, क्योंकि उसमें उसके आदर्श और सैद्धान्तिक निष्ठा आड़े आती है। गाँव में माई के गंभीर रूप में अस्वस्थ होने की ख़बर से पूरा परिवार गाँव जाता है और उसी यात्रा में मोहन अपनी पत्नी शशि को अपने जीवन-प्रसंग सुनाता चलता है।

शशि मोहन के ही एक संस्कारी अध्यापक की बेटी है, जिनकी उसके निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। एक लंबे वैवाहिक जीवन में मोहन ने शशि को अपने आदर्शों और सिद्धान्तों के अनुरूप ढालने की कोशिश की है। इसमें इसलिए भी उसे अधिक कठिनाई नहीं होती, क्योंकि ये संस्कार वह अपने पिता के घर से लेकर आई है। लेकिन फिर भी बच्चों को अभावों के बीच पलते देख उसका मन जब-तब कचोटने लगता है और वह पति के दुर्दम्य पठारी व्यक्तित्व को सांसारिक व्यावहारिकता के छीटों से नरम करने का प्रयास करती है। असफल होने पर वह खीझती भी है और पीड़ा एवं व्यंग्य के स्वर में बोलने लगती है। ऐसे ही एक प्रसंग में वह कहती है, "सारी ज़िंदगी इनकी लड़ने में ही बीत जायेगी... इनके साथी लेखकों में जाने कितनों ने सरकारी नौकरी, कितने ही सरकारी और दूसरी पत्र-पत्रिकाओं के संपादक बन गए हैं, कितने ही सरकारी समितियों के सदस्य बन गए हैं। सब मोटी-मोटी तनख़ाहें, भत्ते और इनाम झटक रहे हैं। कितनों ने अपनी कोठियाँ खड़ी कर ली हैं, कितनों ने कारें ख़रीद ली हैं। कितनों की किताबें कोर्स में लग गयी हैं। गुलछर्रे उड़ा रहे हैं और आप बस यही फ़ख़्र लिए जीए जा रहे हैं कि हम लड़ रहे हैं। लड़िए, साहब ख़ूब लड़िए। अब तो हम भी यही देखना चाहते हैं कि आप कब तक लड़ते हैं..." (*धरती*, पृ. 390) और जैसे अपनी इस असमाप्त लड़ाई की प्रकृति और लक्ष्य स्पष्ट करता हुआ मोहन कहता है "...इंसान सिर्फ़ अपनी ही पीढ़ी के लिए नहीं लड़ता है, वह अपनी आगे आनेवाली पीढ़ियों के लिए भी लड़ता है। इंसान को अपने पीछे की लाखों पीढ़ियों के अर्जन की विरासत मिलती है और वह अपने आगे आने वाली लाखों पीढ़ियों के लिए अपना अर्जन छोड़ जाता है..." (वही, पृ. 492) एक उपन्यास के रूप में *धरती* मोहन के लंबे-लंबे संवादों, व्याख्यानों

और आत्म-वृतांत के रूप में विकसित होता है, अतः कलात्मक अन्विति का उसमें घोर अभाव है। अधिकांश स्थलों पर मोहन ही बोलता है, शशि और उसके साथी सिर्फ़ श्रोता की भूमिका में बने रहते हैं, जीवन और जगत की अनेक चीज़ों पर टिप्पणी की छूट उसे मिलती रहती है। ग्राम जीवन का परिवेश, प्राथमिक शिक्षा की स्थिति, पूंजीवाद समाज में साहित्य और संस्कृति का रूप आदि अनेक मुद्दे हैं, जो एक के बाद एक आते रहते हैं और मोहन के रूप में स्वयं लेखक उन पर अपना अभिमत प्रकट रहता है। *धरती* वस्तुतः जीवन आधार का प्रतीक है, जो जिस क्षेत्र में है, उसे निष्ठापूर्वक वैसे ही अपने क्षेत्र में अपना कार्य करना चाहिए, जैसे किसान अपनी धरती पर करता है। दूसरे कुछ भी करते हों, मोहन अपनी धरती पर अपने आदर्शों और सिद्धान्तों के बीज छींटता एक ऐसा किसान है, जिसे फ़सल से अधिक चिंता इसकी है कि धरती गोड़ी बोई जाती रहे। कैसे भी परिणाम और रणनीतिक कौशल से विहीन उसका यह संघर्ष अपनी प्रकृति में एक जुनून की सीमा तक पहुँचकर भी वस्तुतः उपलब्धि की दृष्टि से किसी बड़ी फ़सल का आश्वासन नहीं देता। अपनी निष्ठाओं के आवेग में मोहन इसे भले ही न समझता हो, शशी अपनी व्यवहारिक बुद्धि से यह अवश्य समझती है। अपनी निष्ठाओं के प्रति एक निष्कंप संघर्ष ही *धरती* की उल्लेखनीय उपलब्धि है।

भारतीय समाज में नारी की नियति को परिभाषित करने की दृष्टि से भैरव प्रसाद गुप्त के अब तक उल्लिखित उपन्यासों से अनेक संकेत ग्रहण किए जा सकते हैं। आगे चलकर उन्होंने *आशा, कालिन्दी* और *रम्भा* नामक उपन्यासों की एक त्रयी लिखी, जिसमें वे क्रमशः सामंतवादी, पूँजीवादी और गाँधीवादी व्यवस्था में स्त्री की स्थिति पर टिप्पणी करते हैं। इसी त्रयी में *एक जीनियस की प्रेमकथा* को भी मिलाकर कुछ निष्कर्ष सरलतापूर्वक निकाले जा सकते हैं। *आशा* में उपन्यास की नायिका आशा स्वयं अपनी कहानी सुनाती है। सेठ कालिन्दी प्रसाद आशा अर्थात् जानकी बाई को अपनी रखैल बनाना चाहता है। निर्धन दुकानदार बाप की बेटी होने के कारण ही नवाब के हरम में पहुँचा दी जाती है और बाद में वहाँ से मुक्त होने पर जानकी बाई के रूप में नाचने-गाने का धंधा करने लगती है। नवाब और सेठ कालिन्दी प्रसाद दोनों के लिए ही स्त्री भोग की सामग्री है। लेकिन लेखक स्त्री की पीड़ा का वास्तविक साक्षात्कार करने की बजाय एक चटपटी और रोचक कहानी में उलझ गया है। आशा की पीड़ा में वैसी सांद्रता भी नहीं है, जो *ज़ंजीरें और नया आदमी* में पानकुँवरि या हवेली की बाँदियों के प्रसंग में दिखाई देती है। इसकी अगली कड़ी में सेठ कालिन्दी चरण अपनी कहानी कहता है। उसका सबसे बड़ा कष्ट यह है कि रुपये के लालच में उसका

पिता उसका विवाह बड़े घर की फूहड़ लड़की से कर देता है। पैसा उसके पास कितना ही हो, श्वसुर की सहायता से दूसरे विश्वयुद्ध में वह और भी कमाई करता है, लेकिन उसका पारिवारिक जीवन नरक बना हुआ है। अंग्रेज़ों और कांग्रेस दोनों के बीच संतुलन साधकर वह व्यापार में ख़ूब उन्नति करता है। असफल दाम्पत्य जीवन के कारण वह एक वेश्या से संबंध बनाता है और उसी से उत्पन्न बेटी का नाम वह रम्भा रखता है। लेकिन इसकी नियति भी बहुत भिन्न नहीं है। अलग कोठी में पाली-पोसी जाने के बावजूद उसे सोलह साल की उम्र में चालीस साला सेठ सोनेलाल की रखैल बनने को बाध्य होना पड़ता है, क्योंकि उसके पिता सेठ कालिन्दी चरण में यह साहस नहीं है कि समाज में यह कह सके कि वह उसकी बेटी है। सेठ सोनेलाल की रखैल बन जाने के बाद भी रम्भा अपने विकास के लिए संघर्ष करती है। पढ़कर एम. ए. करने के दौरान वह आनंद के संपर्क में आती है। सोनेलाल का गर्भ धारण करके भी वह उससे घृणा करती है। आनंद के सम्पर्क में आकर वह जनसेवा की ओर प्रवृत्त होती है और एक स्कूल चलाने लगती है। लेखक जनसेवा के छद्म को उद्घाटित करने का प्रयास अवश्य करता है, लेकिन इससे रम्भा की नियति अप्रभावित ही रहती है। कला की दृष्टि से यह पूरी त्रयी कदाचित् भैरव प्रसाद गुप्त की सबसे असफल रचना है। कथा के भटकाव में वह रचना-दृष्टि भी भटक जाती है, जो स्त्री की वास्तविक पीड़ा के संवेदनशील साक्षात्कार के साथ उसके स्पृहणीय रूप को प्रस्तुत कर पाने में सफल होती है।

इसी तरह *एक जीनियस की प्रेम कथा* जो अपने मूल रूप में *उसका मुज़रिम* के नाम से प्रकाशित हुआ था, कला और साहित्य के नाम पर छली जानेवाली स्त्री कुसुम की कहानी है। राजेश के निकट सम्पर्क में आकर ही अपने अनुभव से वह यह जान पाती है कि हमारी समूची व्यवस्था, कानून और आचार संहिता—सब की सब पुरुष के वर्चस्व से बंधी है। इस वर्चस्व को तोड़ना ही अब उसके जीवन का लक्ष्य है। अपने प्रति किए गए अत्याचारों का जाल काटते हुए इस वर्चस्व के विरुद्ध वह अपनी अर्थात् समूची स्त्री जाति की लड़ाई लड़ने का संकल्प लेती है। लेकिन उसकी इस लड़ाई में भी अति नाटकीयता उसके समूचे संकल्प को बाधित करती है। स्त्री की पीड़ा और संघर्ष का एक वास्तविक और विश्वसनीय संसार यहाँ भी अनुपस्थित ही बना रहता है। कालक्रमानुसार थोड़ा आगे चलकर लिखे जाने के बावजूद *नौजवान* को इन उल्लिखित उपन्यासों का पूरक कहा जा सकता है। समाज की संरचना में किसी आधारभूत परिवर्तन के बिना न तो स्त्री को उसकी वास्तविक सामाजिक गरिमा दी जा सकती है और न ही युवावर्ग

में किसी प्रकार का कोई दायित्व-बोध पैदा किया जा सकता है। यहाँ लेखक एक ओर यदि समूची व्यवस्था, ख़ास तौर से शिक्षा के अंतर्विरोधों को उद्घाटित करता है, वहीं इस तथ्य पर भी बल देता है कि अधिकांशतः नितांत साधनहीन वर्ग और परिवारों से आने वाले युवक ही शिक्षा में रुचि लेनेवाले मेधावी छात्र होते हैं। उपन्यास के पूर्वार्द्ध में भरत के परिवार और परिवेश के विस्तारपूर्वक अंकन द्वारा लेखक रचना को एक आत्मीय धरातल देता है। लेखक शिक्षा-व्यवस्था को समूची सामाजिक संरचना का ही एक महत्त्वपूर्ण अंग मानता है। अतः शिक्षा-जगत् में किसी आधारभूत परिवर्तन का मतलब है समूची व्यवस्था में परिवर्तन। छात्रों के छोटे-छोटे असंतोष को एक बड़ी लड़ाई के रूप में संगठित किए जाने की आवश्यकता है। गोर्की के उपन्यासों से लेकर अमृत राय के *बीज* तक ऐसे उपन्यासों पर 'प्रचार' का ठप्पा लगाया जाता रहा है। वैसे भी *नौजवान* पर गोर्की के *माँ* की छाप स्पष्ट है और गुरिल्ला लड़ाई के संदर्भ में चेग्वेयरा के प्रभाव को भी अनदेखा कर पाना कठिन है।

एक नितांत भिन्न और बेहद निजी अर्थ में भी भैरव प्रसाद गुप्त उपन्यास को लड़ाई के अस्त्र के रूप में इस्तेमाल करने वाले लेखक हैं। हिन्दी में ऐसी रचनाओं का अभाव नहीं है, जो अपने सहयोग और समकालीन लेखकों से खुंदक निकालने के लिए लिखी गई हैं। भैरव प्रसाद गुप्त का *अंतिम अध्याय* हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक उपेन्द्रनाथ अश्क को केंद्र में रखकर लिखा गया एक ऐसा ही उपन्यास है। अश्क से न सिर्फ़ भैरव प्रसाद गुप्त के सुदीर्घ मैत्रीपूर्ण पारिवारिक संबंध रहे, वे उनके *सत्ती मैया के चौरा* के अतिरिक्त कुछ अन्य रचनाओं के पहले प्रकाशक भी थे। लेकिन फिर किन्हीं भी कारणों से हो, इस संबंध में बिगाड़ पैदा होता है और इस बदले तथा बिगड़े हुए संबंध की झलक कौशल्या अश्क की कहानी 'दावत-अदावत' में देखी जा सकती है। भैरव प्रसाद गुप्त का *अंतिम अध्याय* इसी प्रकाशक दम्पत्ति को केंद्र में रखकर लिखा गया है। पकड़ से बचने के लिए नामों को या तो बदला गया है या फिर कभी-कभी उनका उल्लेख किए बिना भी काम चलाने की कोशिश की गयी है। लेकिन तत्कालीन साहित्यिक परिदृश्य से परिचित व्यक्तियों के लिए इन गुप्त संदर्भों और उनके निहितार्थों को समझना कठिन नहीं है। जिस शहर की यह कहानी है, उसे 'साहित्यकारों और यूनिवर्सिटी वाला शहर' बताने से ही उसका इलाहाबाद होना स्पष्ट है। प्रकाशक-दम्पत्ति में पति लेखक भी है—तिकड़मी और हरफ़नमौला क़िस्म का आदमी है। उसका नाम उपेन की जगह नरेन है और उसकी पत्नी को 'शकुन्तला' कर दिया गया है। लेनिक अश्क के परिचित लटके उपन्यास में बहुत स्पष्ट हैं। '...मैं

तो बीमार आदमी हूँ...' उनका प्रिय वाक्य था—पत्रों और बोलचाल दोनों में। उसे यहाँ ऊब की हद तक दोहराया गया है। जिन दूसरे लेखकों, प्रकाशकों, प्रकाशन-संस्थाओं और पत्रिकाओं का उल्लेख किया गया है, अपने परिवर्तित नामों के बावजूद वे सब आसानी से पकड़ में आ जाते हैं। बम्बई में जिस फ़िल्मी लेखक मोहिन्दर के यहाँ गोष्ठी होती है, वे वस्तुतः राजिन्दर सिंह बेदी ही हैं। वहाँ उपस्थित लेखक अपने बदले नामों में भी पहचाने जा सकते हैं—माहिर चंद्र और सरदार आदि। इनकी पहचान इतनी सरल है कि उस पर कोई टिप्पणी व्यर्थ है। अपने स्वाभिमान और सहज मानवीय तंतुओं की घोर उपेक्षा करता हुआ नरेन मस्खरी और क्षुद्रता का जो प्रदर्शन करता है, उसमें वह एक विद्रूपचरित्र ही अधिक लगता है। मोहिन्दर के यहाँ अपने साथ घटे हादसे के बाद, उस गंदी और जुगुप्सापूर्ण स्थिति में अपनी अंतिम यात्रा अर्थात् जीवन के अंतिम अध्याय की कल्पना से ही वह काँप उठता है। अच्छी और मुफ़्त की होने से ज़रूरत से ज़्यादा पी ली गई शराब के कारण जो और जैसे स्वप्न वह देखता है, वे हर दृष्टि से जुगुप्सापूर्ण हैं। नरेन और शकुंतला के संदर्भ में, उनकी शारीरिक क्रियाओं की समानता और तुलना के लिए, जिस तरह से जानवरों का उल्लेख किया गया है, उस सबसे सिर्फ़ लेखक के अंतर्मन में जमी गहरी घृणा का ही प्रमाण मिलता है। अंग्रेज़ी मुहावरे में इसे, कुल मिलाकर, एक बैड टेस्ट में लिखा उपन्यास ही कहा जा सकता है।

अपने *भाग्य देवता* में भी भैरव प्रसाद गुप्त ने अपने नगर का साहित्यिक-सांस्कृतिक परिवेश अंकित करते हुए कुछ वास्तविक व्यक्तियों पर विवादास्पद टिप्पणियाँ की हैं। एक अलग अध्याय में चूँकि इस उपन्यास का विस्तारपूर्वक मूल्यांकन किया गया है, यहाँ उसकी विस्तृत चर्चा की गुंजाइश नहीं है। अपने अधिकांश कथानायकों की तरह यहाँ भी भैरव प्रसाद गुप्त अपने राजनीतिक और संपादकीय अनुभवों को छगन जी के माध्यम से रूपायित करते हैं। इस तरह *भाग्य देवता* को वे दो परस्पर विरोधी जीवन-दृष्टियों—पूँजीवाद बनाम समाजवाद और भाग्यवाद बनाम श्रम के टकराव के माध्यम से विकसित करते हैं। इसमें लेखक ने संगठन का व्यक्ति होकर भी संगठन के संबंध में कुछ महत्त्वपूर्ण और विवादास्पद प्रश्न उठाये हैं। इतिवृत्तात्मकता, बहसों और विवरणों के माध्यम से लेखक एक समूचे काल-खण्ड की सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक गतिविधियों को प्रस्तुत करने का प्रयास करता है।

अनेक दूसरे कम्युनिस्ट विचारकों और लेखकों की तरह भैरवप्रसाद गुप्त भी हिन्दी पट्टी में आंदोलन की विफलता और गतिरोध से चिंतित थे। जितना

समय यहाँ मिला और जैसी परिस्थितियाँ थीं, उन सबको देखते हुए समाजवादी क्रांति का सपना पूरा हो जाना चाहिए था। लेकिन वह नहीं हुआ। अपने अंतिम दौर में भैरव प्रसाद गुप्त सम्भवतः यह अनुभव करने लगे थे कि यदि सामूहिक स्तर पर किसी विस्तृत क्षेत्र में इस गतिरोध को नहीं तोड़ा जा सकता तो अर्थहीन प्रतीक्षा और कैसी भी लफ्फाज़ी से बचकर अपने-अपने क्षेत्र में लोगों को काम शुरू करना चाहिए। उनका उपन्यास *अक्षरों के आगे* और मरणोपरांत प्रकाशित *छोटी-सी शुरूआत* भी उनके इसी सोच का प्रतिफलन हैं। ऐसा लगता है कि उपन्यास अपने मूल रूप में *मास्टर जी* नाम से प्रस्तावित था, पुस्तक के फोलियो पर यही शीर्षक छपा है, लेकिन कदाचित् इसे व्यक्ति-केंद्रित रूप देने की बजाय एक व्यापक प्रवृत्ति के रूप में रेखांकित करने के उद्देश्य से ही उसके शीर्षक में यह परिवर्तन किया गया है। अपनी व्यापकता और अर्थ-विस्तार में वह दूर तक जाता है।

उपन्यास पति-पत्नी, मास्टर जी और मास्टराइन, के लंबे संवाद की शैली में लिखा गया है और जहाँ-तहाँ लेखक के अपने संघर्ष और वैचारिक विकास की अनुगूंज उसमें सुरक्षित है। मास्टर जी की आयु पैंतालीस वर्ष के क़रीब है। अपने क्षेत्र में वे एक आदर्श शिक्षक के रूप में जाने जाते हैं। स्वाधीनता सेनानी, गाँधी-भक्त हेडमास्टर साहब के आदर्शों-तले उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई है। विवाह के प्रति उनकी कोई रुचि न होने से ही लंबी उम्र तक उन्होंने विवाह नहीं किया। फिर हेडमास्टर के आग्रह पर उनकी बेटी क्रांति से उनका विवाह हो जाता है—कोर्ट में बहुत निराडंबर के रूप में। बेटी के नाम पर पिता के आदर्श की छाप स्पष्ट है। लेकिन देश और समाज के काम में डूबे रहने के कारण उन्हें कभी बेटी को पढ़ाने-लिखाने का अवसर ही नहीं मिला।

मास्टर जी मास्टराइन के पति ही नहीं, शिक्षक की भूमिका भी निभाते हैं। बल्कि वही अधिक महत्त्वपूर्ण है। मास्टराइन औपचारिक रूप में तो शिक्षा ग्रहण करती ही हैं, उन्होंने हिंदी में एम.ए. किया है, मास्टर जी के अगाध ज्ञान और प्रकृति के कारण उनके ज्ञान का दायरा असाधारण रूप से विस्तृत है। मास्टर जी के संबंध में यह शंका हो सकती है कि तब भी विद्यालयों में ऐसे अध्यापक कहाँ होते थे, लेकिन उन्हें एक अपवाद मानकर चला जा सकता है। एक स्थल पर मास्टराइन जो कुछ सोचती है, वह इस उपन्यास की प्रकृति पर भी प्रकाश डालता है..." जब से मेरी पढ़ाई पूरी हुई है, पढ़ाई की जगह बातचीत ने ले ली है। यह भी एक तरह की मेरी पढ़ाई ही होती है। मेरी यह पढ़ाई वे ज़िंदगी भर चलायेंगे..." (*अक्षरों के आगे*, पृ. 206) उपन्यास के प्रारम्भ में रवीन्द्रनाथ

ठाकुर की जो पंक्तियाँ उद्धृत की गई हैं, धर्ममूढ़ लोगों के धर्म-विचार से समाज को मुक्त करके ज्ञान के आलोक के प्रसार की प्रार्थना के रूप में, वे भी उपन्यास के रचनात्मक लक्ष्य को प्रकाशित करती हैं।

रूसी लेखक मकारेंको ने किशोरों को शिक्षित करने के उद्देश्य से अपना बृहदकाय तीन खण्डों वाला उपन्यास *जीवन की ओर* लिखा था। भैरव प्रसाद गुप्त समाज की जड़ता और अंधविश्वास को तोड़कर सामाजिक और राष्ट्रीय विकास के लिए वैज्ञानिक दृष्टि के विकास पर बल देते हैं। मास्टर जी नास्तिक हैं और पत्नी के बीच उनके इस सुदीर्घ संवाद का दायरा बहुत व्यापक है। समाज और संस्कृति की समस्या उसके परे और बाहर नहीं है। बुद्ध, गाँधी, कबीर, तुलसी से लेकर सोवियत संघ के विघटन से पूर्व वहाँ घटित सामाजिक, राजनीतिक परिवर्तन—ग्लास्तनोस्त और पेरेस्त्रोइका सब कुछ इस दायरे में आता है। शिक्षा का उद्देश्य बहुत व्यापक है। नौकरी की लक्ष्य-सीमा में बंधी शिक्षा न अब तक देश का भला कर सकी है और न ही आगे कभी कर सकेगी।

आर्य समाजी महाशय जी का सहयोग मास्टर जी और मास्टराइन के सपने को पूरा करने का अवसर जुटाता है। हेडमास्टर साहब जो महाशय जी के भी शिक्षक रहे हैं, के निर्देशन में बाक़ायदा एक स्कूल की योजना तैयार होती है। बरसों से बंद पड़ा उनका मंदिर खोलकर उसमें स्कूल खोला जाता है। स्कूल केवल बच्चों के लिए नहीं होगा—प्रौढ़ और स्त्री शिक्षा की व्यवस्था भी उसमें की गई है। स्कूल के आगे बड़े और व्यापक लक्ष्य हैं। लोगों को बताया जायेगा कि सामाजिक विकास की दृष्टि से विज्ञान की बड़ी-बड़ी उपलब्धियों के सूत्रधार उनकी तरह साधारण मनुष्य ही थे। उत्पादन के साधनों पर प्रभुत्व सम्पन्न वर्गों के कब्ज़े से ही सामाजिक संतुलन बिगड़ा है और समस्याएँ पैदा हुई हैं। सामाजिक विकास की दृष्टि से उस साक्षरता की आवश्यकता नहीं है, जो आंकड़ों की कलाबाज़ी द्वारा सरकारी योजनाओं के तहत हुआ है, बल्कि 'शिक्षा' की आवश्यकता है, जो छोटे-बड़ों और स्त्री-पुरुषों में समान रूप से नागरिकता और जनतंत्र के प्रति जागरूकता पैदा कर सके। लोकतंत्र के विकास में अशिक्षा सबसे बड़ी बाधा है। विज्ञान जन-विज्ञान का रूप लेकर ही सामान्य जनता के लिए लाभकारी हो सकता है। लेखक के मन में समाजवादी व्यवस्था का सपना अभी ज़िंदा है। सोवियत संघ में क्रांति के बाद जैसे धार्मिक स्थलों को स्कूलों और अस्पतालों में बदल दिया गया था, वैसी ही पहले यहाँ बंद पड़े मंदिर को विद्यालय का रूप देकर की गई है।... *अक्षरों के आगे* एक सोद्देश्य उपन्यास है, जिसका महत्त्व कलारूप की दृष्टि से उतना नहीं है, जितना विश्वदृष्टि के निर्माण की

समूची प्रक्रिया को उद्घाटित करने की दृष्टि से है।

भैरव प्रसाद गुप्त के मरणोपरांत प्रकाशित *छोटी-सी शुरूआत* उनका महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय उपन्यास है। इसका नायक सरल है और *सत्ती मैया का चौरा* के मुन्नी-मन्ने के समान ही, आफ़ताब से उसकी गहरी दोस्ती है। सरल राजनीतिक व्यक्ति नहीं है, लेकिन अपने राष्ट्रीय और क्रांतिकारी विचारों के लिए उसे रोज़ थाने पर हाज़िरी देनी होती है। कहानी का प्रारम्भ सन् '35 की गर्मियों से होता है, जब वह इलाहाबाद यूनिवर्सिटी से दी गई बी. ए. की परीक्षा के परिणाम की प्रतीक्षा में है। रोज़ थाने आने पर दारोगा नईमुल्लाह से उसका बहुत आत्मीय संबंध स्थापित हो जाता है, क्योंकि पुलिस के महक़मे में होने के बावजूद वह बेहद ईमानदार और नमाज़ी मुसलमान है। सरल और आफ़ताब के माध्यम से चौथे दशक के पूर्वार्द्ध में इलाहाबाद का साहित्यिक, शैक्षिक और राजनीतिक वातावरण इसमें विस्तार से अंकित है। सरल मेधावी छात्र है। बी. ए. उसने प्रथम श्रेणी में पास किया है। लेकिन फिर भी उसकी जैसी घरेलू परिस्थितियाँ हैं, यहाँ तक पढ़ पाना भी उसे एक आश्चर्य जैसा लगता है। यूनिवर्सिटी में उसके अध्यापक उससे बहुत खुश हैं और एक-दो ब्रिटिश और आयरिश अध्यापकों को हिन्दी और उर्दू का ट्यूशन देकर वह यहाँ तक पहुँचता है। जैसी नौकरी मिलती है या मिल सकती है, उसमें उसकी कोई रुचि नहीं है। लेकिन बड़े भैया का बोझ कम करने और परिवार की ज़िम्मेदारियों में हाथ बँटाने के विचार से वह एक-दो नौकरियाँ करता भी है। उनमें 'कमाई' की गुंजाइश भी ख़ूब थी। लेकिन इसी से वे उसके लिए परेशानी का कारण भी बनती है, जिन्हें जल्दी ही वह छोड़ देता है।

अपने इस उपन्यास में भैरव प्रसाद गुप्त एक भिन्न और परिवर्तित राह का संकेत देते हैं। यहाँ उनका नायक राजनीतिक से अधिक सामाजिक और पारिवारिक परिवर्तन के लिए प्रतिश्रुत है। एक छोटी-सी शुरूआत भी यह इसी अर्थ में कि जो कुछ वह ज़रूरी समझता है, उसे स्वयं अपने पर लागू करके देखता है। किसी अपेक्षित और बड़े परिवर्तन की यह शुरूआत वह अपने घर से ही करता है। सरल 'कमाई' वाली नौकरी नहीं कर सकता, क्योंकि उसका संकल्प है "...मैं अपने श्रम की रोटी खाना चाहता हूँ... योग्यता देश-समाज की सेवा के लिए होती है न कि भ्रष्टाचार में भागीदारी के लिए..." (*छोटी-सी शुरूआत*, पृ. 343) वह न किसी का शोषण करेगा और न ही किसी को अपना शोषण करने देगा। लेकिन जैसी स्थितियाँ हैं, उनमें यह मामूली-सी इच्छा भी अनेक प्रकार की परेशानियाँ पैदा करती है।

सरल का मानना है कि स्वप्नदर्शी ही यथार्थदर्शी हो सकता है। वह सपने देखता है और भरसक उन्हें यथार्थ में बदलना चाहता है। प्रेम और विवाह के अधिकार को वह युवाओं के लिए ही सुरक्षित रखने की बात कहता है। चार साल की अनवरत और सहज प्रतीक्षा के बाद वह अम्मू से विवाह करता है। लेकिन उसका पंजीकरण भी वह अम्मू की सहमति से ही करने को तैयार है और अम्मू इसे अपने दादा डॉ. राजन की इच्छा का सम्मान करके इसकी अनुमति देती है। सरल के जैसे निम्न मध्यवर्गीय ग्रामीण-परिवार में, परिवारवालों को कोई सूचना दिए बिना, इस प्रकार का विवाह एक हादसा ही है। परिवार में जो उसके बहुत निकट और आत्मीय हैं—भाई, बाबू और मझली भाभी उनमें से भी किसी को इसकी कोई भनक नहीं मिलती। यह वस्तुतः पूरे परिवार को साथ लेकर सामाजिक परिवर्तन और विकास में विश्वास की शुरूआत है। मँझली भाभी के असाध्य समझे जाने वाले रोग में वह अपने जीवन की चिंता किए बिना उसकी जैसी सेवा-टहल करता है उसका लाभ भी जल्दी दिखाई देता है। डॉक्टर की सलाह पर सामिष भोज वह आफ़ताब के घर से मँगवाने की व्यवस्था करता है और मँझली के संकोच पर स्वयं उसके साथ खाकर वह उसके संकोच को तोड़ता है। अपने पर प्रयोग और सीधी हिस्सेदारी की यह शुरूआत मँझली को जैसे नया जीवन देते हैं।

इसी तरह साक्षरता अभियान की शुरूआत भी वह घर से करता है। मँझली की बीमारी में उसे पढ़ाकर वह जैसे उसका भविष्य गढ़ता है। बाद में उसकी देखा-देखी बड़ी भाभी भी पढ़ना शुरू करती हैं। गाँव में जब लड़कियों का स्कूल खुलता है तो संकोच से बाहर निकलकर मँझली उसमें पढ़ना शुरू करती है। विधवा ओर सांस्कृतिक रुचियों वाली युवती कलावती स्कूल की प्रधानाध्यापिका बनती हैं। व्यावहारिक स्तर पर यह छोटी-सी शुरूआत लम्बे-चौड़े भाषणों और लफ़्फ़ाजी से कहीं बेहतर है। सरल अपने को राजनीति से अलग रखकर सामाजिक और सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की राह पकड़ता है। एक अर्थ में आफ़ताब उसका पूरक है—जो गाँव में ही रहकर वकालत के साथ राजनीति में आने की घोषणा करता है। लेकिन राजनीति के प्रति सरल की उपेक्षा और उदासीनता के निहितार्थ क्या हैं? क्या सामाजिक काम भी राजनीतिक हस्तक्षेप के बिना संभव है? गाँव में शिक्षा के क्षेत्र में वह जो कुछ करना चाहता है, राजनीति से अछूते रहकर क्या वह संभव है? कांग्रेस की प्रांतीय सरकारों से उसका असंतोष समझा जा सकता है। घर में कांग्रेसी भैया की अवसरवादी परिणति के संकेत भी बहुत सुखद नहीं हैं। लेकिन फिर भी सरल की राजनीतिक निरपेक्षता की दृष्टि न तो

बहुत व्यावहारिक लगती है और न ही आश्वस्त करती है। इसी तरह सरल और अम्मू का विवाह भी अनेक शंकाएँ पैदा करता है। सरल के प्रेम ने अम्मू में विद्रोह का साहस पैदा किया है। उसकी आत्म-शक्ति और आत्म-विश्वास की कोई सीमा नहीं है। किसी प्रकार का अवलंब और बंधन उसे स्वीकार्य नहीं है। वह एक आत्मनिर्भर और सचेत युवती है। लेकिन यहीं से शंकाओं की सीमा रेखा शुरू होती है। सरल और अम्मू का यह विवाह एक अपवाद जैसा है, जिसमें व्यवहार और चेतना की अनेक जटिलताओं को बहुत सरलीकृत ढंग से देखा गया है। अम्मू गाँव नहीं आ सकती और सरल गाँव और परिवार को छोड़कर मद्रास में नहीं रह सकता। सामाजिक पुनर्निर्माण और विकास का कार्य वह जिस ढंग से गाँव में शुरू करता है, उसमें उसकी उपस्थिति अनिवार्य है। उसमें गाँव की स्थितियों को समझकर उसे सहयोग देनेवाली स्त्री उसके सामाजिक-सांस्कृतिक लक्ष्य की दृष्टि से भी उपयोगी होती। अम्मू से इस प्रकार की अपेक्षाएँ नहीं की जा सकतीं। फिर इस विवाह की सार्थकता क्या है? ...*छोटी सी शुरूआत* का वास्तविक महत्त्व वस्तुतः विचारधारा और रणनीति संबंधी आत्मालोचना में निहित है। भैरव प्रसाद गुप्त अपने उपन्यासों के लिए निर्धारित और प्रयुक्त ढर्रा यहाँ तोड़ते हैं। विचारधारा के प्रति ज़ेहादी उत्साह यहाँ संतुलित हुआ है और व्यक्तिगत स्तर पर छोटे-छोटे प्रयासों का महत्त्व बढ़ा है।

इसे अपने ही अनुभवों से सीखने का कलात्मक विवेक भी माना जा सकता है। यशपाल के *मेरी तेरी उसकी बात* के मूल्यांकन के संदर्भ में वर्षों पहले मैंने ही इसे 'अपनी ही परम्परा का अतिक्रमण' के रूप में रेखांकित किया था। हिन्दी के लगभग सभी प्रगतिवादी लेखकों में विचारधारा के प्रति यह उच्छल और किसी हद तक असंतुलित उत्साह प्रगतिवादी आंदोलन के उत्कर्षकाल में ही दिखाई देता है। जैसे हर संघर्ष धीरे-धीरे संतुलित और सामान्य राह की ओर जाता है, अपनी सारी सक्रियता और नैरन्तर्य के बावजूद प्रगतिवाद के साथ भी ऐसा ही होता है।

ग्राम-जीवन के प्रति अपने गहरे आकर्षण के बावजूद भैरव प्रसाद गुप्त सामाजिक रूपान्तरण में मध्यवर्ग की भूमिका के प्रति कहीं भी उदासीन नहीं हैं। यह अकारण नहीं है कि उनके अनेक उपन्यासों—*धरती, अंतिम अध्याय, नौजवान* और *भाग्य-देवता* आदि में उनका केंद्रीय चरित्र एक लेखक और संपादक है, एक तरह से उनका अपना ही प्रतिरूप। व्यक्तिगत खातों को सुलटाने और निजी खुंदक निकालने की प्रवृत्ति के बावजूद वे वृहत्तर समाज के लिए किए जानेवाले निष्ठापूर्ण संघर्ष को महत्त्व देते हैं। इस संघर्ष और समर्पण में ही वस्तुतः मध्यवर्गीय रुझानों और सीमाओं का अतिक्रमण संभव है। इस संघर्ष में वस्तुतः कोई बीच

का रास्ता नहीं है। अपने लिए चुना गया कार्य क्षेत्र—धरती के नाम की लड़ाई जीवन को अर्थ देने की ही लड़ाई है। *धरती* से लेकर *छोटी-सी शुरूआत* तक इस लड़ाई के विभिन्न मोर्चों और रूपों को देखा जा सकता है। संगठन के शीर्ष पर बैठे नेताओं ने, वे संगठन चाहे राजनीतिक हों या साहित्यिक-सांस्कृतिक, अपनी नासमझी और हठधर्मिता से सामान्य कार्यकर्ता और जनता की भावनाओं की उपेक्षा करते हुए, समूचे संगठन और वामपंथी आंदोलन को कैसे क्षतिग्रस्त किया है, भैरव प्रसाद गुप्त गहरी पीड़ा और संवेदना के साथ इसे उद्घाटित करनेवाले लेखक हैं। इन सीमाओं से बाहर आकर ही सामाजिक रूपान्तरण में मध्य वर्ग की कोई सार्थक भूमिका संभव है। इस दृष्टि से *छोटी-सी शुरूआत* कर्म की अपेक्षा शब्द पर बल देकर इस रूपान्तरण की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय शुरूआत है।

कहानी

एक कहानीकार की हैसियत से भैरव प्रसाद गुप्त की रचनात्मक सक्रियता के संकेत पाँचवें दशक के आरंभ से ही मिलने लगे थे। उनकी कहानियों का पहला संग्रह *मुहब्बत की राहें* सन् '45 में प्रकाशित हुआ और उसी के अगले वर्ष सन् '46 में उनकी कहानियों का दूसरा संग्रह *फ़रिश्ता* आया। हिंदी कहानी के विकास की दृष्टि से यह वही समय था जब प्रेमचंद का निधन हुए अधिक समय नहीं बीता था और उनकी परम्परा के रूप में प्रगतिवादी लेखक कहानी के सामाजिक सरोकारों के प्रति पर्याप्त सजग थे। यद्यपि इन प्रगतिवादी कथाकारों के समांतर ही जैनेंद्र कुमार, अज्ञेय और इलाचंद्र जोशी की वह कथा-पीढ़ी भी पर्याप्त सक्रिय थी जिनकी कहानियों की व्यक्तिवादी मनोवैज्ञानिक कहानियों के रूप में पहचान की शुरूआत हिंदी आलोचना में हो चुकी थी। जिस राजनीतिक-सामाजिक परिवेश में भैरव प्रसाद गुप्त का निर्माण हुआ एक ओर यदि वह स्वाधीनता आंदोलन का उत्कर्ष काल था तो दूसरी ओर वह भारतीय बुद्धिजीवियों के वामपंथी राजनीतिक रुझान के विकास का काल भी था। इन नए रुझानों की दृष्टि से, साहित्य और राजनीति दोनों में ही, इलाहाबाद की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। भैरव प्रसाद गुप्त बलिया के ग्रामीण क्षेत्र से आए थे और कथा-साहित्य में प्रेमचंद उनके आदर्श थे। उन्हीं की तरह वे शहरी और भारतीय ग्राम जीवन के व्यापक फलक पर अर्थात् एक तरह से पूरे भारतीय समाज पर अपनी दृष्टि रखकर आगे बढ़ रहे थे। एक लेखक के रूप में जिस राजनीतिक परिवर्तन के संकेत प्रेमचंद ने अपने अंतिम रचना-काल में दिए थे, राहुल सांकृत्यायन, निराला, उग्र, यशपाल, अमृतराय और रांगेय राघव आदि के साथ भैरव प्रसाद गुप्त भी इसी शृंखला में उसी रचना-दृष्टि के विकास में सक्रिय थे। इस काल खण्ड में एक लेखक के कार्य-भार की ओर संकेत करते हुए, अपने एक साक्षात्कार में भैरव प्रसाद गुप्त कहते हैं, "इसी

युग में पहली बार सामाजिक संबंधों के वर्गाधार का निरूपण हुआ और पाठकों में वर्ग चेतना जगाने की कोशिश की गई। इस युग की कहानियों में हम शोषक वर्ग तथा शोषित वर्ग को रूबरू संघर्षरत पाते हैं। इसी कारण इस युग में कहानी का बहुत अधिक विकास तथा विस्तार हुआ और कहानी के पाठकों में भारी वृद्धि हुई...." (*प्रतिमान*, प्रवेशांक, जनवरी' 77, पृ. 5) 'कहानी' के पुनर्प्रकाशन और 'माया' आदि के स्वरूप में घटित गुणात्मक अंतर को वे कहानीकारों की इसी रचनात्मक सक्रियता से जोड़कर देखते हैं।

भैरव प्रसाद गुप्त ने सन् '48 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता ग्रहण की थी। लेकिन पार्टी की तत्कालीन नीति की तरह वे भारत की आज़ादी को झूठी और नकली आज़ादी न मानकर 'एक महान घटना' के रूप में स्वीकृति देते हैं। वे मानते हैं कि इस सद्यः प्राप्त स्वतंत्रता से भारतीय समाज में एक गुणात्मक परिवर्तन घटित हुआ और अनेक प्रकार के सांस्कृतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक आंदोलनों की शुरूआत हुई। इन्हीं आंदोलनों का एक स्वाभाविक परिणाम यह था कि प्रगतिवादी कथाधारा के लेखक, कहीं सचेत और कहीं सहज भाव से, कहानी को सर्वहारा के जीवन और संघर्ष से जोड़ने का प्रयास कर रहे थे। भारतीय समाज में हाशिए पर रहने वाला विशाल निम्न मध्यवर्ग इस सर्वहारा का ही एक रूप था। किसी मायने में इसकी स्थिति और भी ख़राब थी, क्योंकि अपनी सामाजिक हैसियत और मर्यादा की कुंठा में बदलती चिंता उसे अनेक प्रकार के पाखंडों और अंतर्विरोधों का शिकार बना रही थी। एक लेखक के रूप में, वस्तुतः यही वह क्षेत्र था, जहाँ से भैरव प्रसाद गुप्त ने अपनी रचना-यात्रा शुरू की।

भैरव प्रसाद गुप्त के आरंभिक दोनों संग्रहों में जो सोलह कहानियाँ संकलित हैं, उनमें स्वाधीनता के पूर्व के भारतीय समाज के अनेक चित्र अंकित हैं। भैरव प्रसाद गुप्त की इन कहानियों में उत्पीड़न और शोषण के जो चित्र मिलते हैं, उनमें सामाजिक संरचना की दृष्टि से सामंतवाद की एक विशिष्ट भूमिका है। भारतीय स्वाधीनता-आंदोलन के इस दौर में एक ओर यदि ज़मींदार और सामंतवर्ग के शोषण के विरुद्ध विकसित होती जन-चेतना और प्रतिरोध-क्षमता को जागृत करने के प्रयत्न दिखाई देते हैं तो दूसरी ओर, बहुत कुछ प्रेमचंद की कहानियों से ही प्रेरित होकर, देश के प्रति एक भावात्मक लगाव, समाज में व्याप्त विसंगतियों की तीखी पहचान और उस पहचान के बीच सामाजिक परिवर्तन के सुधारवादी आग्रह इन कहानियों में बहुत स्पष्ट हैं। इनमें से अनेक कहानियों में ग्रामीण जीवन में व्याप्त अंधविश्वासों और रूढ़ियों पर चोट की गई है। सामाजिक जीवन

में गहराई से जड़ जमाए अंतर्विरोधों और कुरीतियों की दृष्टि से 'कुसुमी' और 'विद्रोह की घड़ी' आदि कहानियों का उल्लेख किया जा सकता है। इन कहानियों में भारतीय समाज में स्त्री की लांछना और उत्पीड़न के जो चित्र अंकित हैं, वे स्त्री को सबसे बड़े दलित और उत्पीड़ित के रूप में प्रस्तुत करते हैं। उसके मन और देह पर किये जानेवाले क्रूर अत्याचारों के अनेक चित्र यहाँ देखे जा सकते हैं। इन कहानियों में एक और चीज़ भी है, जो एक लेखक की हैसियत से भैरव प्रसाद गुप्त के सरोकारों को उद्घाटित करती है। सामंती उत्पीड़न के विरुद्ध इस लड़ाई में अहमद कुसुमी का सहायक बनकर सामने आता है। एक ईमानदार सरकारी नौकर की हैसियत से वह कुसुमी और उसके परिवार की सहायता करके उन्हें सामाजिक लांछना से बचाता है। स्त्री की नियति को परिभाषित करने के लिए इसी उत्पीड़न का विस्तार 'कनीज़' की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तक देखा जा सकता है। इसी सामंती उत्पीड़न का ही एक रूप वेश्यावृत्ति है, जिससे प्रेमचंद कभी अपने सुधारवादी आग्रहों के साथ टकराए थे। 'मुहब्बत की राहें' अंतर्वस्तु के विस्तार की दृष्टि से उल्लेखनीय है, जिसमें प्रेमानुभूति को आधार बनाकर, मैक और मर्फी जैसे जेनी के प्रेमियों के रूप में, ईसाई समाज को अंकित किया गया है। प्रेम के आवेग को सहज और स्वाभाविक रूप में विकसित होने पर लेखक का ध्यान अधिक नहीं है। कहानी में बुनी गई स्थितियाँ बहुत विश्वसनीय नहीं बन पड़ी हैं, अपने क्षेत्र-विस्तार की रचनात्मक आकुलता की दृष्टि से ही यह एक उल्लेखनीय कहानी है 'फरिश्ता' पुलिस के भ्रष्टाचार और बेईमानी के बीच बशीर जैसे एक ईमानदार आदमी की विडम्बना की कहानी है। कहानी बहुत कुछ एक नीतिकथा की तरह बुराई पर अच्छाई की विजय को अंकित करने के बावजूद नैतिक मनोद्वन्द्व की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। अपनी कुछ कहानियों में लेखक श्रम जीवन की वास्तविक समस्याओं को उद्घाटित करके ग्राम-जीवन के प्रति किताबी और भावात्मक आकर्षण वाले मिथ को भी तोड़ने की कोशिश करता है। भैरव प्रसाद गुप्त की अपनी विकास-यात्रा में इन आरंभिक कहानियों का महत्त्व इसी दृष्टि से है कि वे सामाजिक यथार्थ के प्रति लेखक की सोच को रेखांकित करती हैं। इनमें उन सूत्रों को विकसित होते देखा जा सकता है, जिन्हें आधार बनाकर वे अपनी परवर्ती कहानियों में कहानी की व्यक्तिवादी और आत्मपरक प्रवृत्तियों के विरुद्ध संघर्ष करते हैं।

भैरव प्रसाद गुप्त भले ही देश की स्वाधीनता को 'एक महान घटना' के रूप में स्वीकृति देते हों, लेकिन धीरे-धीरे वे अनुभव करने लगते हैं कि यह वह और वैसी स्वाधीनता नहीं है, जिसकी परिकल्पना देश की जनता ने की थी।

समाजवादी मुखौटे में जो पूँजीवादी विकास हुआ, उसने जल्दी ही देश की जनता को निराश करना शुरू कर दिया। भैरव प्रसाद गुप्त की अनेक कहानियों में एक ओर यदि कांग्रेस का वर्गचरित्र, पाखंड और व्यापक राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा करके क्षुद्र स्वार्थों में लिप्त रहने का अंकन किया गया है, वहीं नौकरशाही और पुलिस से बने उसके समीकरण एक ऐसे तंत्र को जन्म देते हैं, जिसमें मेहनत, ईमानदारी और शिक्षा-संस्कृति का तेज़ी से ह्रास हुआ है। स्वाधीनता-संघर्ष के दौर में सक्रिय मूल्य-दृष्टि एक व्यापक मूल्यहीनता और अराजकता में बदलती गई है। स्वाधीनता के बाद के समाज में राजनीतिक सम्पर्क और संरक्षण का महत्त्व कैसे और किस सीमा तक बढ़ता गया है, इसका संकेत उन्होंने 'चुपचाप' शीर्षक कहानी में विस्तारपूर्वक किया है। कालीबाबू पेशे से वकील हैं। राजनीतिक संरक्षण पाकर उनके और परिवार के लोगों के पास बेहिसाब सम्पत्ति बढ़ी है। कोठियाँ, कई पेट्रोल पम्पों की एजेंसी और ट्रकों का एक पूरा बेड़ा। एक समय ऐसा भी आता है कि उनकी यह सारी सम्पत्ति उनके हाथ से फिसलते देखकर उनके परिवार के लोग चिंतित होने लगते हैं। यह कालीबाबू में आए परिवर्तन का दौर भी है। वे ख़ामोश रहने लगे हैं, अधिक बाहर नहीं निकलते और लोगों से मिलना-जुलना बहुत कम कर दिया है। लेकिन फिर स्थिति बदलती है। अपने जिस राजनीतिक संरक्षक को बचाने और उसकी सहायतार्थ उन्होंने अपनी सम्पत्ति दाँव पर लगाई थी, वह दाँव वे जीत जाते हैं। देखते-देखते ही उनकी गिरवी पड़ी कोठियों के काग़ज़ वापस आ जाते हैं। गए हुए पेट्रोल पम्प फिर मिल जाते हैं और नए ट्रकों का पहले से भी बड़ा बेड़ा उनकी कोठी के आगे खड़ा हो जाता है। उनका संरक्षक-मित्र अब प्रदेश का मुख्यमंत्री है। व्यवसायी, नौकरशाह और पुलिस के आदमी, जो उनके पास आते हैं, वे उनसे कोई बात न करके चुप रहते हैं, क्योंकि 'चुप' की शक्ति का रहस्य उन्होंने जान लिया है। ये वे ही लोग हैं, जो कल तक उन्हें बेदख़ल करने पर आमादा थे... ये तो 'कुत्ते' हैं—कुत्तों से क्या बोलें? कहानी में मुख्यमंत्री द्वारा लिखा गया पत्र, जिसे कालीबाबू अपनी पत्नी को पढ़वाकर फिर नष्ट कर देते हैं, पूरी कहानी को भले ही नक़ली और अविश्वसनीय बनाता हो, क्योंकि राजनीति की तिलिस्मी दुनिया में ऐसे पत्र कभी लिखे ही नहीं जाते, लेकिन फिर भी कहानी इस तथ्य को सफलतापूर्वक उभार सकी है कि राजनीतिक संरक्षण का मुख्य सूत्र हाथ में आते ही और सब कुछ अपने आप सधता जाता है। पुलिस, व्यवसायी और प्रशासन का समूचा तंत्र इस संरक्षणवादी व्यवस्था में कुत्ते से अधिक हैसियत नहीं रखता, जो सिर्फ़ मालिक का इशारा देखकर ही भौंकता या चुप रहता है।

इस राजनीतिक वर्चस्व के दौर में ख़ुदा अर्थात् मंत्री को बनानेवाली जनता जानवर है, लेकिन खुदा उस ओर से लापरवाह है। 'ख़ुदा, इंसान और जानवर' में मंत्री, जनता और इंसान का त्रैत छोटे भैया जैसे बचे-खुचे इंसानों को भी अंततः 'ख़ुदा' बनने की राह पर ठेल देता है। जिस राजनीतिक वर्चस्व और सर्वव्यापकता को यह बुद्धिजीवी, जो यूनिवर्सिटी में प्रध्यापक है, शुरू में वितृष्णा और उपेक्षा की दृष्टि से देखता है, धीरे-धीरे स्वयं उसी जाल की ओर बढ़ता जाता है। डिब्बे के लोगों को दिए गए व्याख्यान और एक ही समय खाने का उसका ढोंग—उसका अपना ही रूपांतरण करते चलते हैं। अपने में घटित इस परिवर्तन को वह स्वयं आश्चर्य से देखता है। डिब्बे के यात्रियों के रूप में समाज की एक रंगारंग दुनिया हमारे सामने आती है, जो पूर्व निर्णयों और धारणाओं से मुक्त है। पूरी कहानी व्यंग्य की अंतधारा के साथ विकसित होती चलती है। इस राजनीतिक संरक्षणवाद ने जो समाज बनाया है, वह आदमी को बेशर्म, लम्पट और धूर्त ही बना सकता है, जो श्रम और उसमें निहित मूल्य-दृष्टि का तिरस्कार करके ही आगे बढ़ने को प्रोत्साहित करता है। 'दो चरित्र' का पति इसी समाज की उपज है, जो अपनी पहली पत्नी को इस कारण मार देता है वह उस पर हर दृष्टि से भारी पड़ती थी। यहाँ उसकी दूसरी पत्नी के रूप में सुमित्रा पुरुष-वर्चस्व की बिसात पर अपने पति इन्द्र की शतरंजी चालों को झेलते हुए शंका, संदेह और असुरक्षा के आतंक में जीने को अभिशप्त है। अपने अनुभव से जीवन में 'सुख' के जिस दर्शन को उसने हासिल किया है, उसका निचोड़ है, "केवल मूर्ख लोग अपनी जिंदगी को किसी वसूल या भावना से बाधते हैं और इस संसार में दुःख मोल लेते हैं..." (*आँखों का सवाल*, पृ. 41) यह समाज ऐसे आदमी पैदा करता है जो स्वयं अपनी पत्नियों को—'काम...काम...काम...' और 'अफ़सर, बीवियाँ और मेरे दोस्त की कहानी' के नायकों की तरह नेताओं और अफ़सरों के पास पहुँचाते हैं। स्वाधीनता के बाद बने इस समाज ने स्त्री को एक सीढ़ी में बदलकर रख दिया है जिसके सहारे आप सुख और तृप्ति की दुनिया तक पहुँच सकते हैं। आदमी की सफलता में पत्नी की भूमिका वाली इस संस्कृति का विकास स्वाधीन भारत की एक बड़ी परिघटना है। लेकिन यह सिर्फ़ अपनी पत्नी तक ही सीमित न रहकर अपनी खोज और शिकार के क्षेत्र को विस्तार देती है, जिससे एक ऐसा सिलसिला शुरू होता है जो कहीं ख़त्म नहीं होता। ...'काम...काम...काम' में काम की यही प्रकृति आदमी को 'बड़ा आदमी' बनने का गुर सिखाती है। इस समाज में श्रम की व्यर्थता स्वयं सिद्ध है। 'श्रम' का व्यवसायी इस सत्य को अच्छी तरह समझ गया है। इसलिए उसकी टिप्पणी है... "ये उच्च शिक्षा

प्राप्त लेखक हैं। इन्हें इतनी तो समझ होनी चाहिए कि केवल काम करके कोई बड़ा आदमी बन सकता, तो हमारे देश के सभी मज़दूर और किसान करोड़पति होते।" (*आप क्या कर रहे हैं?*, पृ. 83) राजनीतिक नेतृत्व और उसका संरक्षण पाये लोगों को, जिसमें व्यवसायी, नौकरशाह और प्रशासन का समूचा तंत्र शामिल है, इस चल रही व्यवस्था में कोई परिवर्तन या उसके लिए की जाने वाली पहल, पसंद नहीं आती। ये लोग 'गाँव की एक सभा' के हाकिम परगना की तर्ज़ पर राजनीतिक प्रतिनिधि के साथ मिलकर शिकार और तफ़रीह के रूप में मौज-मज़ा करते हैं और अपने एक सूत्री संक्षिप्त भाषण में देश की जनता को सब्र की ज़रूरत समझाते हैं, क्योंकि 'दरअसल हमारे देश को आज इस सब्र की ही ज़रूरत है... आप लोग इस सब्र के संदेश को हर आदमी तक पहुँचाएँ। यही आज का सबसे बड़ा काम है"... (*आँखों का सवाल*, पृ. 66) इस सब्र में ही उन्हें सुरक्षा दिखाई देता है और यह विश्वास बना रहता है कि अगले वर्ष जब वे फिर आएँगे तो उन्हें सब कुछ ऐसा ही—यथावत् मिलेगा।

भैरव प्रसाद गुप्त के गाँव प्रेमचंद के गाँवों से बुनियादी रूप से भिन्न हैं। प्रेमचंद ने ग्राम-जीवन की समग्रता में एक संपूर्ण मनुष्य को केंद्र में रखकर अपनी कहानियों की रचना की थी। शोषण, उत्पीड़न और रोंगटे खड़े कर देने वाले अभावों के बीच जीने के बावजूद उनके पात्र अनेक स्तरों पर उन स्रोतों से जुड़े रहकर अपना जीवन जीते हैं जो उनकी वैसी स्थिति के लिए ज़िम्मेदार हैं। अपने अभावों के बीच भी वे आनंद और उत्सवधर्मिता के क्षणों की अचूक पहचान रखते हैं। प्रेमचंद के ये पात्र अपनी करुणा से सम्मोहित करने वाले पात्र हैं। उनके जीवन में करुणा और विडम्बना के सूत्र ही उन्हें आज भी हमसे जोड़ते हैं। लेकिन स्वाधीनता के बाद भारत के गाँव और दूसरी चीज़ों की तरह ही, वैसे नहीं रहते। *गोदान* लिखे जाने से पूर्व प्रेमचंद ने मुंशी दया नारायण निगम को लिखे गए अपने एक पत्र में यह इच्छा व्यक्त की थी कि वे गाँव लौटकर शांति से अपना उपन्यास पूरा करना चाहते हैं। उनकी कोई बड़ी इच्छाएँ नहीं हैं, सिर्फ़ एक तोला घी और पाव भर दूध मिलता रहे। स्वाधीनता के बाद के गाँवों में शांति की यह तलाश एक विडम्बना ही है और प्रेमचंद को अपने इस निर्णय पर कई बार सोचना होता। भैरव प्रसाद गुप्त की कहानियों के गाँव राजनीति की अपभ्रष्टता से ग्रस्त हैं। महाजन और पुरोहित का दमनचक्र बदस्तूर जारी है, इसमें एक और आयाम राजनीतिक व्यक्तियों और उनके दलालों का जुड़ गया है, 'नया खाता' के रामचरन की तरह के युवक इस कुचक्र को तोड़ने का प्रयास भी करते हैं। 'अपरिचय का घेरा' की तरह कुछ पढ़-लिख गए ग्रामीण

युवाओं की बेरोज़गारी उन्हें गाँव से निकालकर दूर-दराज़ के अपरिचित क्षेत्रों में भटका रही है। 'चरम बिंदु' के 'रामधन' और 'डाकुओं के सरदार' के कवलापति जैसे लोगों के मन में अपने बैलों के प्रति नेह-छोह अभी भी भले ही बचा रह गया है, वरना ये ऐसे गाँव हैं, जहाँ आदमी-आदमी के बीच की दूरी तेज़ी से बढ़ी है। कोटा और परमिट की कमाई, पुलिस की भेंट-पूजा के सहारे फलने-फूलने वाला टिड्डे की जाति का एक वर्ग स्वाधीनता के बाद के इस भारतीय ग्राम-समाज में तेज़ी से बढ़ा और फैला है। दूसरी ओर इसके प्रतिरोध की चेतना भी विकसित हुई है। भैरव प्रसाद गुप्त की कहानियाँ इस प्रतिपक्ष को छापामार लड़ाई तक ले जाती हैं और प्रायः ही इस संघर्ष को एक यांत्रिक सरलीकृत विजय-अभियान में बदल देती हैं।

ग्राम-परिवेश वाली अपनी कहानियों में भैरव प्रसाद गुप्त मुख्यतः चरित्रों को आधार बनाकर अपनी कहानियाँ बुनते है। इस वर्ग की उनकी कुछ उल्लेखनीय कहानियों में 'धुरहुआ', 'डाकुओं का सरदार', 'धनिया की साड़ी', 'गत्ती भगत', 'फूल' और 'मंगली की टिकुली' आदि की चर्चा की जा सकती है। *धुरहुआ* का गोबरधन गाँव के सामंती उत्पीड़न की जीती-जागती मिसाल है। अपने हक़ के लिए ज़बान खोलने पर उसकी ज़बान ही खींच ली गई है और जैसे-तैसे भागकर जब वह दूसरे गाँव में पहुँचता है तो अनगौआँ सीढ़ी पर नंग-धड़ंग आबनूस के इस कुंदे जैसे बेहोश पड़े आदमी को देखकर गाँव में हलचल मच जाती है। अछूत गरजन की औरत की माया-ममता पाकर जैसे वह ठूँठ से फिर पेड़ में बदलने लगता है। उसकी आवाज़ विकृत हो जाने से वह अपने बारे में कुछ बता नहीं पाता और सिर्फ़ मा-मा करके इशारे भर करता है। धीरे-धीरे वह पूरे गाँव की ज़िंदगी में रच-पच जाता है। वह इतिहास के पोथों में सुरक्षित चरित्र-नायकों से बहुत भिन्न है। गाँव के निर्बलों, बूढ़ों और औरतों का वह विशेष सहायक है। अपने करतबों से वह होली के स्वांग और बतरस का मुख्य आकर्षण बन जाता है। लेखक मेहतर परिवार के गरजन के माध्यम से समूचे ग्राम-समाज की प्रतिक्रियाओं के प्रति सजग है। गरजन का एक बेटा मंगरा कलकत्ता में नौकरी करता है। उसकी पत्नी—मंगरा बौ परिवार से अलग सुंदर और नाज़ुक-सी औरत है। धुरहुआ उसका रक्षक बन जाता है। लोग उसका नाम लेकर मंगरा-बौ को जब-तब चिढ़ाते और ताने भी मारते हैं। बाद में गोबरधन के भाई द्वारा उसे पहचान लिए जाने पर भी वह उस गाँव को छोड़कर जाता नहीं है। मंगरा की औरत पर 'मालिक' द्वारा बलात्कार के बाद धुरहुआ की आत्मीय पीड़ा में सने संवाद-संकेत जैसे उसके अंतर में छिपी करुणा की भी निकासी का द्वार खोल

देते हैं। वह मंगरा-बौ के कुएँ में कूदने की आवाज़ सुनता है और आग में घिरे खूँटे से बँधे जानवर की तरह सिर्फ़ मा-मा करके परिवार के लोगों को चेताने की कोशिश करता है। बड़का गुस्से में गाली देता हुआ उसकी इस मूक सहानुभूति को अपनी कोताही पर टिप्पणी के रूप में लेता है और उसे ही कूद जाने का ताना मारता है। घुरहुआ सचमुच कूद जाता है। इसके बाद कुएँ से दो लाशें निकाली जाती हैं। गाँव की हर ज़बान पर घुरहुआ का नाम था, हर आँख में उसके लिए आँसू। घुरहुआ की मूक संवेदना उसे गाँव के अनलिखे इतिहास का एक हिस्सा बना देती है।

'डाकुओं का सरदार' और 'गत्ती भगत' भी ऐसे ही व्यक्तियों को केन्द्र में रखकर लिखी गई कहानियाँ हैं जो नीति और नैतिकता के पक्ष में खड़े होकर अनीति और शोषण का विरोध करते हैं। 'डाकुओं का सरदार' के चौधरी कबलापति और लाला लछिमी लाल सिर्फ़ दो पात्र ही नहीं हैं—वे दो मूल्य-दृष्टियाँ भी हैं। डाकुओं का वास्तविक सरदार कबलापति नहीं, जो अकाल-बेला में लाला की अनाज से भरी गाड़ी लुटवा देने में अप्रत्यक्ष रूप से लूटनेवालों की सहायता करता है। डाकुओं का असली सरदार तो लाला स्वयं है, जो स्वाधीनता के बाद कांग्रेस में शामिल होकर अपनी जलाई गई दुकान का लम्बा-चौड़ा मुआवज़ा वसूल करने के साथ ही, पुलिस की भेंट-पूजा के सहारे, कोटा परमिट की कमाई से आज बड़ा आदमी भी बना हुआ है। लाला द्वारा पुलिस में लूट की रपट लिखाई जाने पर मुँह अंधेरे सोए हुए कबलापति को पुलिस पकड़कर ले जाती है... "लोगों ने सुना, तो हैरान हो-होकर समझने की कोशिश करने लगे यह कैसा डाकुओं का सरदार है, जिसने मुँह दिखाकर रात में डाका मारा और सुबह में पकड़ जाने के लिए अपने घर में आ सो गया? उसकी इस हैरानी का जवाब कौन देता? कबलापति हवालात में था और खूँटे पर बँधे हुए बैल मूक थे..." (महफ़िल, पृ. 151) इसी तरह 'गत्ती भगत' का बरसों पहले कंठी धारण करके अपना रूपांतरण कर चुका गत्ती भी रातों-रात अपने कंठी-त्याग से चर्चा का विषय बन जाता है। भगत बन जाने के बाद उसके बारे में लोगों में यह विश्वास बना है कि वह झूठ नहीं बोलता। इसी विश्वास का सहारा लेकर वह गाँव के कम्युनिस्ट नेता रामाधार को अपने घर में छिपाकर पुलिस से उसकी रक्षा करता है। गाँव और उसकी जनता के लिए रामाधार द्वारा किए गए काम को वह जानता है। वह पुलिस और उसके गुर्गों को भी जानता है और जिनके विरुद्ध रामाधार संघर्षरत है। वह अपनी कंठी और उसमें निहित विश्वास की एकमात्र सार्थकता यही देखता है कि सत्य और न्याय का पक्ष ले और वही वह करता है। उसे लगता है

कि रामाधार के प्रसंग में, उसे बचाने के लिए, झूठ बोलकर भी वह कोई अपराध नहीं करता है। ...'धनिया की साड़ी' के रमुआ को किसान से मज़दूर बनकर शहर भागने की पीड़ा बुरी तरह सालती है। कहानी द्वितीय विश्वयुद्ध के दौर की है। गाँव में ज़मींदार की जो जमीन वह जोतता था वह उससे छिन जाती है। गल्ले की क़ीमत बेतहाशा बढ़ जाती है। अपनी पत्नी धनिया और गोद के बेटे को गाँव में छोड़कर वह मेहनत-मज़ूरी के ख़याल से शहर आ जाता है। सेठ की भैंस पर पड़ा मलमल का कफ़न जैसे-तैसे हथियाकर वह अपनी पत्नी की साड़ी के लिए जुगाड़ कर लेता है। विवशता और संस्कार के द्वन्द्व में वह देर तक जूझता रहता है फिर जैसा कि होता है, संस्कार ही हारता है। लेकिन छोटे-छोटे ब्यौरों की चूक कहानी की विश्वसनीयता को क्षति पहुँचाती है। तब क्या सचमुच सारी, सारी बढ़ी हुई महँगाई और मंदी के बावजूद, घर पर पहननेवाली मामूली साड़ी बारह-चौदह रुपये में आती थी? 'फूल' फुलबतिया नामक एक ग्रामीण युवती को केंद्र में रखकर बुनी गई कहानी है जो विवाह के प्रसंग में शारीरिक समानता का आधार बनाकर विकसित होती है। ग्रामीण जीवन की सरलता और सादगी का अंकन कहानी की विशिष्टता है। इसी तरह चरित्र को आधार बनाकर ग्रामीण जीवन की आत्मीय छवि की दृष्टि से 'पियारा बुआ' का उल्लेख किया जा सकता है। भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि से अपने सारे ह्रास और क्षरण के बावजूद ऐसे कुछ लोगों के कारण आज भी वे गाँव शायद पूरी तरह नरक होने से बचे रह गए हैं।

अपने समकालीन लेखकों में भैरव प्रसाद गुप्त ने ही कदाचित् मज़दूरों के जीवन पर इतनी अधिक कहानियाँ लिखी हैं। समाज के बुनियादी वर्गों की प्रतिरोध-चेतना के अंकन की दृष्टि से इस दौर के एक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण लेखक भी माने जा सकते हैं। लंबे समय तक उन्होंने मज़दूरों के बीच रहकर काम किया था और अपने सेवा-काल में अधिकतर नौकरियाँ उन्होंने प्रेस और पत्रकारिता के क्षेत्र में ही की थी। मज़दूर-जीवन से संबंधित उनकी कहानियों में उनके इस जीवनानुभव को ही विश्वसनीय रूप में अंकित करने की कोशिश दिखाई देती है। उनकी इन कहानियों में 'कुत्ते की टाँग', 'हड़ताल', 'चाय का प्याला', 'लड़का' और 'हनुमान' आदि कहानियों का उल्लेख सहज ही किया जा सकता है। ...'कुत्ते की टाँग' मालिक के घर से सुबह-सुबह आए बुलावे से ही चाय 'कड़वी' होने के उल्लेख से शुरू होती है। मालिक की कोठी पर उसे आठ-दस साल के बेटे द्वारा उसे पढ़ाने आए मास्टर की फ़जीहत का दृश्य मालिक की उस 'सांस्कृतिक' पृष्ठभूमि का संकेत देता है, जिसके विरुद्ध संघर्ष भी इस व्यापक लड़ाई का

हिस्सा है। आम की बजाय ख़ास बैठक में 'मैं' (जगरनाथ) को बिठाए जाने से ही उसका माथा ठनकता है। प्रेसमैन जुम्मन का हाथ मशीन में आ गया है। यह हादसा ही संघर्ष का मुख्य कारण है। मालिक और उसके मैनेजर जैसे गुर्गों की कोई सहानुभूति मज़दूरों के साथ नहीं है—वे जैसे-तैसे इस घटना को किसी बड़ी समस्या में बदलने से बचाना-भर चाहते हैं। यही जगरनाथ मज़दूर-संगठन का सचिव है और उनके अधिकारों के प्रति प्रतिश्रुत है। मालिक का चरित्र एक इकहरा चरित्र है, जिसमें पूँजीपति वर्ग के प्रायः सभी दुर्गुण एक जगह मौजूद हैं। वह मज़दूर के साथ घटी इस दुर्घटना के बावजूद अपने कुत्ते की टूटी हुई टाँग के प्रति अधिक चिंतित है और अपनी इस चिंता को वह बहुत क्रूर और वीभत्स ढंग से जगरनाथ के सामने ही प्रकट भी करता है। मालिक हिंदू-मुसलमान का सवाल उठाकर भी इस प्रसंग को ठंडा करना चाहता है। कुत्ते की टाँग जिस ड्राइवर से टूटी है, उसे तत्काल नौकरी से अलग कर दिया गया है। मालिक के कमरे से जगरनाथ के बाहर निकलते ही जो अपरिचित व्यक्ति उसे बंदगी करता है, वह वही ड्राइवर है। जुम्मन का हाल पूछते हुए वह कुत्ते के मामले में अपनी सफ़ाई भी देता है। अगर मालिक जुम्मन को मुसलमान बताकर जगरनाथ की हमदर्दी पाना चाहता है तो इस हीरा के साथ क्या है? जुम्मन का हाथ बच पाने की उम्मीद नहीं के बराबर है। जब हीरा जुम्मन का हाल पूछता है तो जगरनाथ उसके बेकार हो जाने की आशंका जताता है। लेकिन उसकी सांस बोलती है—वह मालिक के कुत्ते की टाँग नहीं है भाई और हीरा से हाथ मिलाते हुए अपने अंदर जैसे उसे एक नई उर्जा प्रस्रवित होती अनुभव होती है।

'चाय का प्याला' और 'हनुमान' भी पूँजीवादी संस्थानों में मज़दूरों के प्रति मालिकों के रवैये और मज़दूरों की प्रतिरोध-क्षमता को रेखांकित करती है। 'चाय का प्याला' में कार्यालय में चाय-जैसी छोटी-छोटी सुविधाओं के लिए भी मज़दूरों को मालिक पर बाक़ायदा दबाव बनाना होता है। यह दोपहर की चाय भी उन्हें मालिक की ओर से इसलिए दी जाने लगी है कि अगर वे लोग अपनी चाय की व्यवस्था स्वयं करेंगे तो अधिक समय लगने से काम का नुक़सान होगा। इससे मालिक अपनी ओर से एक-एक प्याला चाय की व्यवस्था कर देता है। जिस मालिक के लिए खटते-पिसते शर्मा को टी.बी. हुई है, उस मालिक को ही जब उसकी बीमारी का पता चलता है तो वह इस तरह आतंकित होता है, जैसे सचमुच प्लेग फैल रही हो। कर्मचारियों के प्रति कैसे भी कोमल ओर संवेदनशील व्यवहार के बदले शर्मा की बीमारी के बारे में पता चलने पर वह नौकर को डाँटकर शर्मा के प्याले के बारे मे पूछता है और उसके ग़ुस्से को देखकर नौकर

शर्मा का प्याला हैंडिल से पकड़कर ऐसे फेंकता है, जैसे मरे हुए चूहे की पूँछ पकड़कर फेंक रहा हो। मज़दूर-जीवन पर लिखी गई भैरव प्रसाद गुप्त की अन्य बहुत-सी कहानियों की अपेक्षा 'चाय का प्याला' अपने रचनात्मक विवेक के कारण अधिक आश्वस्त करती है। इसी तरह 'हनुमान' भी एक बड़े प्रकाशन संस्थान को केंद्र में रखकर चलती है। अपनी निश्छलता और सेवा-भाव के कारण ही हनुमान एक मिथकीय पात्र की गरिमा तक उठता दिखाई देता है। संगठन और संघर्ष का महत्त्व वह किताबों से नहीं, अपने जीवन और परिवेश से सीखता-पढ़ता है। साथियों के प्रति गहरी आत्मीयता की राह चलकर उसने संस्थान में अपने लिए एक ऐसा स्थान अर्जित किया है, जिसमें आदर भी है और अपनापन भी। ज़रूरत और मुसीबत में वह सहायता और समर्पण का विश्वास जगाता है। मालिक का गुर्गा वर्मा मज़दूरों की यूनियन में फाँक डालकर मालिक के समर्थन में एक समांतर यूनियन स्थापित करने का षड्यन्त्र करता है। उसका विचार है कि सीधा-सादा हनुमान उस पर दस्तख़त कर देगा और उसके दस्तख़त करने के बाद औरों से करवाना आसान होगा। लेकिन वर्मा की इस कार्रवाई पर हनुमान की उग्र प्रतिक्रिया से कार्यालय में हड़कंप मच जाता है। वह वर्मा के हाथ से काग़ज़ लेकर उसे फाड़ देता है और उसके एक झापड़ भी मार देता है। मालिक की सारी कोशिश के बावजूद हनुमान के विरुद्ध कोई अनुशासनात्मक कार्रवाई नहीं हो पाती। उसके बुलाने पर आया दारोग़ा मज़दूरों के तेवर देखकर उसी से पाँच सौ रुपये ऐंठकर स्थिति को नरमी से सुलझा देने की सलाह देकर लौट जाता है। मज़दूरों की भलाई के नाम पर मज़दूरों के उत्पीड़न की काट मज़दूरों की एकजुटता से ही संभव है। कहानी से निकला यह निष्कर्ष कैसे भी यांत्रिक आरोपण से मुक्त है। परिस्थिति और परिवेश के संज्ञान की उसमें एक निर्णायक भूमिका है।

अपनी कहानियों में भैरव प्रसाद गुप्त सिर्फ़ इस संघर्ष से ही मज़दूर एकता और संगठन-शक्ति की सामर्थ्य को उदाहृत नहीं करते हैं। इसके लिए 'हड़ताल' और 'लड़का' जैसी कहानियों में वे एक भिन्न पद्धति अपनाते हैं। 'हड़ताल' में प्रान बाबू पर उनके कार्यालय में हुई हड़ताल के प्रभाव और प्रतिक्रिया का सूक्ष्म आकलन है। कॉफ़ी छोड़ चुके प्रान बाबू हड़ताल की ख़ुशी में कॉफ़ी हाउस में कई प्याले कॉफ़ी पी जाते हैं। अरसे से बेहद आत्मकेंद्रित और चुप रहनेवाले प्रान बाबू मुँह सीकर नहीं बैठते हैं। दो मील पैदल चलकर घर पहुँचते हैं। अपनी नियमित भांग की गोली भी उस दिन वे नहीं लेते। दरवाज़ा खुलवाने पर पत्नी को भी उनकी आवाज़ अपरिचित सी लगती है। पत्नी के दरवाज़ा खोलने पर वे बेतहाशा उसे चूमते चले जाते हैं। बहुत उत्साह से वे उसे उस हड़ताल की

सफलता के बारे में बतलाते हैं, जिससे उन सबका भविष्य जुड़ा हुआ है। पत्नी के आग्रह के बावजूद वे खाना नहीं खाते, क्योंकि बाहर मित्रों के बीच काफ़ी कुछ खाते-पीते रहे हैं। जमीन पर सोए सात बच्चों को प्यार करने के बाद जब वे छोटे बच्चे के पास लेटते हैं, पड़ोसी कृपाल बाबू की आवाज़ सुनकर उठ जाते हैं। उनसे हड़ताल टूट जाने की ख़बर पाकर उन्हें एक धक्का-सा लगता है। कृपाल बाबू बताते हैं कि बहुत से लोगों ने रजिस्टर पर हस्ताक्षर कर दिए हैं। जो लोग चाहें जाकर हस्ताक्षर कर सकें, इसलिए रात भर रजिस्टर रखा रहेगा। कृपाल बाबू के जाने के बाद भी वे अवसन्न स्थिति में वैसे ही खड़े रहते हैं और पत्नी उन्हें सहारा देकर ही बिस्तर तक ले जाती है। सुबह वे अपने बिस्तर पर ही मृत मिलते हैं। अपने अधिकार के लिए किया गया संघर्ष क्या अर्थ रखता है और उसकी असफलता की चोट कितनी जानलेवा हो सकती है, कहानी इसे बहुत सधे हुए ढंग से व्यक्त करती है। भैरव प्रसाद गुप्त की और बहुत सी कहानियों से भिन्न यह अंडर-प्ले, प्रतिक्रियाओं के छोटे-छोटे ब्यौरों के माध्यम से निष्कर्षों की विश्वसनीयता का अन्वेषण, इसे एक उल्लेखनीय कहानी बनाता है। इसी तरह 'लड़का' का बच्चा ताऊ के कारख़ाने में मज़दूरों के उग्र प्रदर्शन और उनकी एकजुटता देखकर डर जाता है। घर पर भी सोते-जागते वे ही दृश्य उसकी आँखों के आगे घूमते रहते हैं। वह ताऊ को भी कारख़ाने नहीं जाने देता। फिर उसके मन में मज़दूरों की ओर से बैठे हुए इस डर को बिजली-मज़दूरों पर ताऊ के प्रभुत्व और आतंक द्वारा निकालने की कोशिश की जाती है। कहानी संगठित और एकजुट मज़दूर की शक्ति और असंरक्षित मज़दूर की निरीहिता के अंतर को भी बड़े सांकेतिक ढंग से स्पष्ट कर देती है।

भैरव प्रसाद गुप्त की कहानियों का एक सकारात्मक पक्ष यह है कि उन्होंने सर्वहारा और बुनियादी वर्गों के पात्रों को लेकर बहुत बड़ी संख्या में कहानियाँ लिखीं और सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा को अभिव्यक्ति दी। कहानी की सामाजिक चिंता को कहानी के केंद्र में रखकर उन्होंने कहानी की व्यक्तिवादी धारा के विरुद्ध संघर्ष किया और प्रेमचंद परम्परा के संवर्द्धन और विकास पर बल दिया। उनकी श्रेष्ठ और उल्लेखनीय कहानियों के माध्यम से ही उनकी रचनात्मक सक्रियता को रेखांकित करने का प्रयास अब तक किया गया है। लेकिन उनके यहाँ पर्याप्त संख्या में ऐसी कहानियाँ भी हैं, जो यांत्रिक निष्कर्षों और आरोपित आशावाद की शिकार हैं। ये अधिकतर ऐसी कहानियाँ हैं, जिनमें प्रतिरोध और संघर्ष के स्वर तो हैं, लेकिन एक उत्कृष्ट कलारूप की दृष्टि से भी वे उतना आश्वस्त नहीं करतीं। ऐसे यांत्रिक निष्कर्षों वाली कहानियों में, उपहास और भर्त्सना के लहज़े में, उनकी

उस कहानी का उल्लेख प्रायः ही किया जाता रहा है, जिसमें भूख से मरता हुआ एक बूढ़ा पात्र दिया जानेवाला गेहूँ लेने से पूर्व पूछता है कि वह गेहूँ रूसी है या अमरीकी? नई कहानी आंदोलन के दौर में 'गढ़ी और बनाई हुई' कहानियों के विरुद्ध जो आवाज़ उठी, उसमें शायद भैरव प्रसाद गुप्त की ऐसी ही कहानियाँ *समर्थन और उदाहरण के लिए, सरलता से उपलब्ध थीं। उनकी कुछ कहानियों*—'एक अच्छा काम', 'रिश्ते का आधार', 'बुद्धू' और 'केवल एक दिन के लिए' आदि को केंद्र में रखकर इस प्रसंग में बात की जा सकती है। 'एक अच्छा काम' का रामकृष्ण अपने माता-पिता के निधन के अपने भैया-भाभी के संरक्षण में ही पला-बढ़ा है। पढ़ने-लिखने के बाद भैया-भाभी के समर्थन और सहमति से ही उसने लक्ष्मी से प्रेम विवाह किया है। लेकिन विवाह के एक वर्ष के भीतर ही गर्भावस्था में लक्ष्मी की मृत्यु के बाद जैसे उसकी दुनिया ही बदल जाती है और फिर एक दिन उसके ठूँठ में नई कोंपलों का आश्वासन भैया-भाभी को नई आशाओं से भर देता है। इसके बाद कहानी दुर्लभ संयोगों और अविश्वसनीय घटना-प्रसंगों में भटकती रहती है। लक्ष्मी नाम की ही उसी की मृत पत्नी की शक्ल-सूरत वाली एक युवती अपने पति के साथ उसे उसकी दक्षिण-यात्रा के दौरान तिन्नेवल्ली में मिलती है। एक नाटकीय संयोग से वह होटल का अपना कमरा इस दम्पत्ति को देकर अपनी रात कहीं और काटता है। सेना में नौकर उसके पति को अगले दिन ही वापस जाना है। उसी कमरे में, उसी रात वह गर्भ-धारण करती है। बाद में उसी के आए पत्रों से पता चलता है कि उसके पति की मृत्यु हो चुकी है और वह रामकृष्ण के प्रति उस कमरे और संतान के लिए अपनी कृतज्ञता व्यक्त करती है। कृतज्ञता-ज्ञापन का यह क्रम जल्दी ही उस बिंदु तक पहुँच जाता है, जिसे 'एक अच्छा काम' कहकर एक बार फिर भैया-भाभी की स्वीकृति हासिल है। इसी तरह 'बुद्धू' भी प्रेम की नितांत अवास्तविक और गढ़ी गई स्थितियों की कहानी है। इसमें सुधा के रूप में एक ऐसी युवती को अंकित किया गया, जो प्रेम में पुरुष की पहल को उसकी वर्बरता के रूप में देखती है और अपनी पहल को ही प्रेम का वास्तविक आधार मानती है। शहर में अपने प्रेमी के उच्छृंखल व्यवहार से रुष्ट होकर वह शहर छोड़ देती है और फिर दूसरे शहर में एक स्थायी रूप से रखे गए रिक्शे वाले से प्रेम निवेदन करके उसे भौंचक्केपन पर खीझकर वह उसे 'बुद्धू' कहकर निराश होती है। प्रेम और स्त्री-पुरुष संबंधों पर कदाचित् ऐसी नक़ली और बनावटी कहानियों के कारण ही नई कहानी में 'अनुभव की प्रामाणिकता' और 'भोगे हुए यथार्थ' का सवाल उठाया गया था। नई कहानी की अनुभववादी परिणति पर किसी टिप्पणी के लिए यहाँ कोई गुंजाइश नहीं है, लेकिन

इससे भैरव प्रसाद गुप्त की कहानियों की सीमाएँ अवश्य स्पष्ट होती हैं।

इसी तरह भैरव प्रसाद गुप्त की वे कहानियाँ भी नितांत असफल हैं, जिन्हें कुछ अमूर्त्त अवधारणाओं के सहारे विकसित किया गया है। 'रिश्ते का आधार' इस अवधारणा को बेहद क्रूड ढंग से उदाहृत करती है कि समाज में सारे संबंध आर्थिक आधार पर बनते और विकसित होते हैं। इसके लिए नितांत कृत्रिम पात्रों ओर अविश्वसनीय घटना-प्रसंगों का सहारा लिया गया है। 'केवल एक दिन के लिए' का बोधा अपनी पत्नी की असामयिक मृत्यु के बाद छोटे बच्चे की निमोनिया से हुई मौत से क्षुब्ध होकर, स्वयं ही अपने चार बच्चों की हत्या कर देता है। वह रिक्शा चलाकर अपने परिवार का गुज़ारा करता है और पत्नी की मृत्यु से परिवार की सारी व्यवस्था नष्ट हो जाती है। उसके आस-पड़ोस के लोगों को इस प्रसंग में जितना निर्मम और उदासीन दिखाया गया है, उसे देखते हुए लेखक की आस्था का सवाल भी उठाया जा सकता है। समाज में ऐसी घटनाएँ घटती हैं और अख़बारों में उनकी ख़बर भी छपती है। बोधा वाली इस घटना के साथ भी ऐसा होता है। लेकिन अख़बारों में छपी यह ख़बर सिर्फ़ एक दिन के लिए ही उत्सुकता, दुख और पीड़ा जगाकर समाप्त हो जाती है। दुनिया के लिए दिलचस्पी की और चीज़ें मिल जाती हैं। लेखक शायद समाज में बढ़ती हुई असंवेदनशीलता पर टिप्पणी करना चाहता है, लेकिन कहानी में व्यक्तिगत अवसाद और हताशा का जो स्वर उभरता है, वह समूची मानवीय आस्था और संबंधों को ही कटघरे में खड़ा कर देता है।

भैरव प्रसाद गुप्त मुक्तिबोध की तरह ही अपने सामनेवाले व्यक्ति से उसकी राजनीति पूछनेवाले लेखक हैं। उनके लेखन के लगभग अंतिम दौर की कहानी 'आप क्या कर रहे हैं?' एक ओर यदि सर्वहारा में विकसित होनेवाली राजनीतिक-सामाजिक चेतना की समूची प्रक्रिया को उद्घाटित करने के कारण महत्त्वपूर्ण है, वहीं वह बुद्धिजीवियों के लिए उनकी सामाजिक संलग्नताएँ परिभाषित करने के कारण भी उल्लेखनीय है। बावर्ची का किशोर बेटा नवाब किसी स्कूल में नहीं पढ़ा है। गोर्की की तरह यह जीवन ही उसकी पाठशाला है। अपने माँ-बाप के सम्पर्क वाले परिवारों, जहाँ वे लोग काम करते रहे हैं, में आते-जाते उसने बहुत-कुछ सीखा और जाना है। ऐसे ही एक अवसर पर 'मैं' से उसका परिचय होता है, जिसके मित्र के यहाँ वह अपने पिता की एवज़ी में खाना बनाने आया। उसकी कम उम्र को देखते हुए उसकी प्रतिभा और क्षमता पर किसी प्रकार की आशंका उसे अपमानित करती है। सलीका और खुद्दारी उसके चरित्र की उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं, जो उसे सम्पर्क में आनेवाले हर व्यक्ति का ध्यान आकृष्ट करती

हैं। कहानी के वाचक 'मैं' के लिए, जो एक डिग्री कॉलेज में प्राध्यापक हैं, अपने प्रति नवाब की उपेक्षा बुरी लगती है, लेकिन उसका काम उसे वैसे ही छूता है। जैसे कविता की कोई पंक्ति किसी सहृदय को छू लेती है। पुल पर साईकिल उठानेवाले बच्चों में वह अनुशासन और सलीका पैदा करता है। उनमें जीवन जीने का शऊर पैदा करके वह अच्छे और सार्थक जीवन की ललक जगाता है। सरकार के समाजवाद के नारे की असलियत वह समझता है। वह 'मैं' से कहता है, "कोई अपने बारे में क्या कहता और सोचता है, उसका क्या महत्त्व है? ...हम उसका काम और उस काम के परिणाम देखेंगे न? आप ही बताइये, इतने वर्ष में अगर हमारे यहाँ समाजवाद की शुरूआत भी हुई होती तो क्या हमारे देश की यही हालत होती, जो आज है?..." (*आप क्या कर रहे हैं?* पृ. 146) भैरव प्रसाद गुप्त के और अनेक पात्रों की तरह नवाब भी व्यवस्था और तंत्र के विरुद्ध बहुत बोलता है। लेकिन अपने इस बोलने को वह अपने कर्म से प्रमाणित भी करता चलता है। इसलिए उसके चरित्र में निहित अतिरेक और अतिरंजना को भी बड़बोलापन कहकर टाला नहीं जा सकता है। ऐसा खरा आदमी प्रशासन और तंत्र के लिए ख़तरनाक होता है, क्योंकि उसकी निर्भीकता से प्रस्रवित ऊर्जा संक्रामक होती है। 'मैं' से पूछा गया उसका सवाल—आप इसके लिए क्या कर रहे हैं? उस पूँजीवादी विकास के बारे में पूछा गया है, जिसे समाजवादी मुखौटे में अंजाम दिया जा रहा है। हड़ताल और संघर्ष में पुलिस द्वारा नवाब की हत्या कर दी जाती है, जिसका कभी कोई प्रमाण नहीं मिलता। लेकिन पुल के पास से गुज़रते हुए 'मैं' को उसकी याद शिद्दत से आती है, जैसे वह उससे पूछ रहा है—सवाल है कि आप क्या कर रहे हैं? नवाब का यह सवाल किसी एक व्यक्ति से पूछा गया सवाल नहीं है। समूचे बुद्धिजीवी वर्ग के लिए यह किसी क़दर असुविधाजनक होने पर भी ज़रूरी सवाल है। कहानी का वाचक 'मैं' अपने रूपान्तरण द्वारा इसका उत्तर भी देता है।

भैरव प्रसाद गुप्त की कहानियाँ कहानी के व्यक्तिवादी, पतनशील और रोमानी रुझानों के विरुद्ध गहरा संघर्ष करती हैं। वे एक प्रतिबद्ध लेखक हैं और लेखक की सामाजिक, राजनीतिक संलग्नताओं को कहीं भी अपरिभाषित छोड़ने के पक्ष में नहीं हैं। ऐसे लेखक में धैर्य का अभाव होता है और आवेग और त्वरा उसके रचना-कर्म को निर्देशित करते हैं। कहानी के रचाव और ब्यौरों की विश्वसनीयता की अधिक चिंता वे नहीं करते। वे उन लेखकों में से नहीं है, जिनके बारे में यह फ़ैसला करना कठिन होता है कि वे उपन्यासकार बड़े हैं या कहानीकार। कहानियाँ उन्होंने बड़ी संख्या में लिखी हैं, लेकिन अपने रचना-कर्म में उपन्यास

ही उनकी मुख्य और केंद्रीय विधा है। कहानी की उनकी चिंता लेखक से अधिक एक संपादक के रूप में उल्लेखनीय है। लेकिन फिर भी, हर महत्त्वपूर्ण लेखक की तरह उनके पास ऐसी कुछ कहानियाँ ऐसी अवश्य हैं, जिन्हें आधार बनाकर उनके रचना-कर्म की सार्थकता की खोज की जा सकती है। मज़दूर और सर्वहारा पात्रों पर लिखी गई उनकी कहानियाँ इसलिए भी महत्त्वपूर्ण हैं कि वे परवर्ती लेखकों की एक पूरी पीढ़ी के लिए आलोक स्तम्भ का काम करती हैं। नई कहानी में सामाजिक और प्रगतिशील धारा इस संदर्भ में उनकी कथा-चेतना का ही विस्तार है। अमरकांत, मार्कण्डेय और शेखर जोशी जैसे कहानीकारों पर इस प्रभाव को देखा जा सकता है।

नाटक और रेडियो-नाटक

भैरव प्रसाद गुप्त के संदर्भ में इस बात पर मतभेद हो सकता है कि उनकी अपनी केंद्रीय विधा उपन्यास है या कहानी। एक लेखक के रूप में उपन्यास और एक संपादक के रूप में कहानी को उनकी मूल और केंद्रीय विधाओं के रूप में स्वीकृति देकर किसी सीमा तक इस विवाद का हल भी सुझाया जा सकता है। एक लेखक और संपादक दोनों ही रूपों में भैरव प्रसाद गुप्त ने साहित्य में सक्रिय व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों से लंबा और निर्णायक संघर्ष किया। उनकी सारी सर्जनात्मक सक्रियता कथा-साहित्य में ही बनी रही। वस्तुतः यही वह क्षेत्र था, जिसमें वे अपनी सारी तेजस्विता और ऊर्जा का विवेकपूर्ण उपयोग करते दिखाई देते हैं। उनका एक मात्र नाटक *चंदबरदाई* (1967) तब प्रकाशित हुआ, जब हिन्दी कहानी में नई कहानी का आंदोलन थिरा चुका था और वे स्वयं उपन्यासकार के रूप में ख़ासी ख्याति और प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। वे प्रगतिवादी लेखक संघ में, संगठनात्मक स्तर पर, सक्रिय थे और इप्टा की सांस्कृतिक गतिविधियों से निकट से जुड़े थे। इलाहाबाद जैसे सांस्कृतिक परिवेश वाले नगर में, या फिर 'नई कहानियाँ' के संपादन काल में अपने दिल्ली-प्रवास में हो सकता है कि कुछ नाटक उन्होंने देखे हों और नाटकों के प्रति उनकी रुचि बढ़ी हो। वैसे भी एक मार्क्सवादी होने के नाते सामाजिक प्रभाव की दृष्टि से वे नाटक की भूमिका से अपरिचित नहीं रहे होंगे। इलाहाबाद में पृथ्वी-थियेटर की रंग-प्रस्तुतियाँ और बंगाल में शंभु मित्र और उत्पल दत्त के रंग-आयोजन भी, संभव है, इस दिशा में उनके प्रेरणा-स्रोत रहे हों।

लेकिन इनके अलावा भी कुछ बातें हैं, जिन्हें *चंदबरदाई* के प्रसंग में याद रखना आवश्यक है। कालिदास को केंद्र में रखकर लिखा गया मोहन राकेश का नाटक *आषाढ़ का एक दिन* भैरव प्रसाद गुप्त के *चंदबरदाई* से एक दशक से

भी पूर्व प्रकाशित होकर हिन्दी रंग जगत में एक रचनात्मक विस्फोट के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था। मोहन राकेश नई कहानी की उस विवादास्पद त्रयी के एक महत्त्वपूर्ण घटक थे, एक संपादक के रूप में भैरव प्रसाद गुप्त ने जिसके व्यक्तिवादी रुझानों के विरुद्ध गहरा संघर्ष किया था। जयदेव तनेजा द्वारा संपादित *राकेश और परिवेश : पत्रों में* में भैरव प्रसाद गुप्त के राकेश को लिखे गए जो पत्र संकलित हैं, उनसे भी उनकी उग्र और स्पष्ट प्रतिक्रिया का प्रमाण मिलता है। आगे चलकर, सन् '73 में, मोहन राकेश के असामायिक निधन से किसी भी स्तर पर भावुक हुए बिना अपने संपादन में निकले 'प्रारंभ' के अंक में उन्होंने *आधे-अधूरे* पर बालकृष्ण मालवीय की जो समीक्षा छापी, उससे मोहन राकेश की रचना-दृष्टि के प्रति उनकी अपनी दृष्टि का अनुमान लगायाजा सकता है। लेखक और उसके रचना-क्रर्म के प्रति मोहन राकेश की दृष्टि रोमानी और व्यक्तिवादी थी, जिसमें कला-सजगता और अस्तित्ववाद के दार्शनिक रुझानों की भी एक निर्णायक भूमिका थी। *आषाढ़ का एक दिन* का कालिदास ऐतिहासिक और मिथकीय कालिदास न होकर मोहन राकेश का अपना रूपान्तरण ही अधिक है। लेखक और राज्यसत्ता के संबंध की जो बहस उसके माध्यम से उन्होंने उठाई थी, वह भी वस्तुतः उनकी अपनी ही दुखती हुई रगों को सहलाना था। *आषाढ़ का एक दिन* का कालिदास एक दुर्बल और अस्थिर चित्त व्यक्ति है, जो अपनी उस करुणा और संवेदना का कोई साक्ष्य नाटक में नहीं देता, जिसे घायल हरिणशावक के प्रति एक नाटकीय प्रसंग में पोसता उसे दिखाया गया है। आगे चलकर इसी का विस्तार *लहरों के राजहंस* के नंद में दिखाई देता है। जब राकेश ने आषाढ़ का एक दिन लिखा था तो उसकी प्रस्तुति लखनऊ में किए जाने की लगभग सारी तैयारियाँ पूरी कर ली गयीं थीं। लेकिन उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री डॉ. सम्पूर्णानन्द ने नाटक पढ़कर इसकी अनुमति नहीं दी थी और वह प्रस्तुति नहीं हो सकी थी। उनकी मूल आपत्ति नाटक में कालिदास के चरित्र को लेकर ही थी। आषाढ़ का एक दिन में मोहन राकेश ने अपनी उसी रचना-दृष्टि को प्रस्तुत किया है, जिसे नई कहानी आंदोलन के दौरान 'अनुभव की प्रामाणिकता' और 'भोगा हुआ यथार्थ' कहकर नई कहानी में अनुभववादी परिणति के रूप में परिसीमित कर दिया गया था। उज्जयिनी पहुँचकर भी कालिदास ने वही सब कुछ लिखा, संवेदना और अनुभव के स्तर पर उसने जो कुछ अपने ग्रामीण परिवेश में जिया और भोगा था। उसकी सारी परवर्ती रचनाएँ मल्लिका के संदर्भ में उस अनुभव को ही वाणी देती हैं, जिसमें मल्लिका के साथ उसकी गहरी भागीदारी रही है। अपने व्यक्ति को अतिशय महत्त्व देने के कारण वह इसे समझ पाने में असमर्थ रहता

है कि परिवर्तन दूसरी ओर से भी संभव है। मल्लिका की पीड़ा को समझते हुए भी उसके प्रति क्रूरता, जो उसकी संवेदनहीनता का ही स्पष्ट प्रमाण है, उसके सारे तर्कों के बावजूद अधिक स्वीकार्य नहीं लगती। एक व्यक्ति के रूप में वह उसके दायित्वहीन और लेखक के रूप में कैसे भी सामाजिक-नैतिक आग्रहों से अपने को ऊपर और परे मानने के दृष्टिकोण का अनिवार्य परिणाम है। उसके संदर्भ में अंबिका की टिप्पणी कि वह बेहद आत्मकेंद्रित व्यक्ति है, मल्लिका को क्रूर और अन्यायपूर्ण भले ही लगती हो, लेकिन यह एक ऐसा सच है, जिसे कालिदास के सारे तर्क भी अन्यथा सिद्ध कर पाने में असफल रहते हैं।

भैरव प्रसाद गुप्त *चंदबरदाई* के कवि चंद में अपने जिस नायक को प्रस्तुत करते हैं, वह लेखक की इस आत्म केंद्रित, रोमानी और अपनी प्रकृति में व्यक्तिवादी होने के कारण कैसी भी सामाजिक और नैतिक चिंता से मुक्त कालिदास जैसे नायक से भिन्न है। कालिदास और चंद दोनों ही भारतीय सामंतवाद की दरबारी संस्कृति के प्रतिनिधि कवि हैं। चंद की अपेक्षा कालिदास का गुप्त-कालीन भारत कला एवं संस्कृति के संरक्षण की दृष्टि से अधिक समुन्नत समाज था। उसे भारतीय सामंतवाद के प्रगतिशील पक्ष और जन-चिंता की दृष्टि से भी एक उदाहरण की तरह उपयोग में लाया जाता रहा है। हर्षवर्धन की मृत्यु के साथ, सन् 648 में इस संरक्षणवादी समाज-व्यवस्था में ह्रास के लक्षण प्रकट होने लगे थे। पृथ्वीराज चौहान तक आते-आते भारत कैसा हो चुका था, इसके अनेक स्पष्ट संकेत *चंदबरदाई* में उपलब्ध हैं। चंदबरदाई एक व्यक्ति और कवि की हैसियत से पृथ्वीराज के रूप में सामंतवाद की निरंकुश भोगवादी संस्कृति का सार्थक प्रतिरोध बनकर उपस्थित है। वह स्थितियों को ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं लेता है, उन्हें बदलने का प्रयास करता है—यह अलग बात है कि उसमें उसे अपेक्षित सफलता नहीं मिलती।

चंद पृथ्वीराज का राजकवि ही नहीं, उसका घनिष्ठ मित्र भी है। आयु में उससे बड़ा होने और जाति में उससे श्रेष्ठ ब्राह्मण होने के नाते भी जो अधिकार उसे मिला है, उसका वह विवेकपूर्ण उपयोग करता है। अपने स्वभाव में स्पष्ट वक्ता होने के कारण वह पृथ्वीराज की भोगवादी दृष्टि की भर्त्सना करता है। चूंकि वह कवि है, अनेक स्थलों पर अपने शब्द-चातुर्य और कौशल से वह सब कुछ कह और कर देता है जो एक सामान्य मेधा के व्यक्ति के लिए दुष्कर है। पिता से विरासत में प्राप्त 'कुशासन' के श्लेष द्वारा वह पृथ्वीराज की निरंकुशता का संकेत देते हुए उसे बरजने का प्रयास करता है। उसके रनिवास में अनेक रानियों के होने पर भी अपनी पोषित कन्या विद्या के प्रति उसके आकर्षण की गंध पाकर चंद उसे इसके लिए भी बरजता है। अनेक अवसरों पर, मन से

न चाहते हुए भी, चंद को पृथ्वीराज की योजनाओं में शामिल होना पड़ा है। इस प्रच्छन्न समर्थन ने उसकी भोगलिप्सा और निरंकुशता को प्रोत्साहित ही किया है। आज जब देश पर संकट छाया है, शहाबुद्दीन गोरी के आक्रमण के रूप में, तो चंद हताश और शोकार्त स्वर में जैसे पृथ्वीराज के कार्यकलापों को ही इसके लिए उत्तरदायी मानकर कहता है :

हा! हन्त!
इस युग का इतिहास
रचा जाएगा दो ही अध्यायों में—
युद्ध-परस्पर एवं विलास,
विलास एवं युद्ध-परस्पर
नाश, सर्वनाश
हमारे प्रिय देश का! (*चंदबरदाई,* पृ. 28/29)

चंद देश की दशा से चिंतित और आहत हैं। ग़ज़नीपति गोरी का आक्रमण होने को है और महाराज पृथ्वीराज आंकठ विलास में डूबे हैं। चौंसठ वीर सामंत, संयोगिता के हरण-अभियान में, कन्नौज के युद्ध में मारे जा चुके हैं। पृथ्वीराज से कुपित होकर, कभी उसका मित्र रहा जालंधर नरेश हाहुली हमीर गोरी से मिलने जा रहा है। कन्नौज नरेश जयचंद सुल्तान गोरी के स्वागत को प्रस्तुत है। जब गोरी का दूत काबाबुल मुल्क संदेश लेकर दरबार में आता है तो पृथ्वीराज द्वारा उसे प्रवेश की अनुमति दे देने पर भी चंद उसे रोककर दूत को अतिथिशाला में प्रतीक्षा करने का आदेश देता है। वह कहलवा देता है कि अभी वह विश्राम करे, थोड़ी देर में महाराज से उसकी भेंट होगी। वह नहीं चाहता कि दूत महाराज पृथ्वीराज की सभा में आकर वास्तविकता को जाने। पृथ्वीराज को छोड़कर गए सामंतों के ख़ाली आसन देखकर दूत को वस्तुस्थिति समझने में कठिनाई नहीं होगी। यह देश के लिए घातक होगा।

पृथ्वीराज भोगवादी, उच्शृंखल और निरंकुश सामंती संस्कृति का प्रतीक-पुरुष है, उसकी सारी ह्रासशील परिघटनाओं के साथ। उसके रनिवास में अनेक रानियाँ होने पर भी वह संयोगिता के प्रति अपनी दुर्निवार आसक्ति से पीड़ित है, क्योंकि वे रानियाँ अब वैसी युवा और आकर्षक नहीं हैं। चंद से भेंट करने उसके निवास पर आने पर वह उसकी पोषित-कन्या विद्या के प्रति भी लंपट आसक्ति पर किसी प्रकार का संयम नहीं रख पाता। जैसा कि देश की जर्जर और विशृंखल दशा का संकेत देते हुए चंद ने अपने उल्लिखित संवाद में कहा है—देश सामंतों की विलास-लीलाओं और उनके कारण होने वाली आपसी संघर्षों की लीला-भूमि बना

है। संयोगिता के हरण-अभियान में पृथ्वीराज के चौंसठ वीर सामंत मारे गए और उसी के परिणाम-स्वरूप कन्नौज नरेश जयचंद से ऐसी गाँठ पड़ी कि वह पृथ्वीराज की अपेक्षा गोरी के स्वागत को तत्पर है। पृथ्वीराज अपनी इच्छा को आदेश का गौरव देता है। सेनापति चामंडराय को वह शृंखलाबद्ध करके गृहबंदी बना देता है और इस संबंध में चंद जैसे मित्र और हितैषी का भी हस्तक्षेप उसे स्वीकार्य नहीं है। इस प्रसंग में एक तरह से वह चंद को भी अपमानित करता है। यह अलग बात है कि अपनी गंभीरता और पृथ्वीराज को देश के गौरव और सम्मान का प्रतीक मानकर दूसरे लोगों की तरह वह कोई और क़दम नहीं उठाता। युद्ध के एकांत शिविर में, शहाबुद्दीन गोरी के बंदी के रूप में, वह अपनी त्रुटियों को याद करता है और कवि चंद के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता है। अपनी त्रुटियों के लिए वह मन-ही-मन क्षमा-याचना भी करता है, क्योंकि प्रायश्चित की स्थिति अब निकल चुकी है। गणिका कर्नाटकी के लिए उसने अपने मंत्री कैमास की हत्या करवा दी। सेनापति चामंडराय का अपराध केवल इतना था कि उसने एक पागल हाथी की हत्या करवा दी थी। क्रोधावेश में अपने चाचा कन्ह की आँखों पर उसने पट्टी बँधवा दी थी और पुण्डीर जैसे भाई को निष्कासित कर दिया था। गहरी हताशा और आत्म-संताप की मुद्रा में, बंदी-शिविर में, अनुपस्थित विद्या को संबोधन करके वह स्वीकार करता है, "विद्ये! मैं तुम्हारा भी अपराधी हूँ। क्षमा करना विद्ये! मैंने सदा अपराध ही किए हैं, किंतु तुम लोग... तुम लोगों ने सदा ही मेरे उपर अपने प्राण न्यौछावर किए हैं। मेरे उपर... नहीं-नहीं... मैं क्या हूँ... अब सब समझ में आता है... मित्र चंदबरदाई के वे वचन... मैं एक प्रतीक हूँ... देश का... मेरी पराजय देश की पराजय है..." (वही, पृ. 109)

पृथ्वीराज की समस्त मानवीय दुर्बलताओं के प्रति चंदबरदाई की मूक सहमति और स्वीकृति का उत्स वस्तुतः उसके इस प्रतीक में ही निहित है। इस प्रसंग में बहुत-कुछ ऐसा भी है जो चंद स्वयं नहीं कर पाता, जिसे उसकी पोषित-पुत्री विद्या करती है। नाटक में विद्या एक कल्पित और अनैतिहासिक पात्र है, जो अपने अप्रतिम साहस और मेधा के बल पर सामंती समाज में स्त्री की गरिमा की अनेक संभावनाएँ उद्‌घाटित करती है—बहुत कुछ राहुल सांकृत्यायन की गणतंत्र व्यवस्था की समर्थक नारियों की तरह। चंद से भेंट को आए पृथ्वीराज का रास्ता वह इसलिए रोककर खड़ी हो जाती है कि कवि काव्य-रचना में व्यस्त है और वह नहीं चाहती कि उसमें कैसी भी बाधा पहुँचे। उसके अपरूप सौंदर्य पर पृथ्वीराज उसे देखते ही रीझ जाता है, लेकिन विद्या उस ओर उदासीन बनी रहती है। अत्यन्त विषम स्थितियों में भी, जब पृथ्वीराज अपने रंग-भवन में रति-मग्न हुआ

पड़ा है और पुरुष वेश में स्त्री सैनिकों द्वारा वहाँ किसी का भी प्रवेश वर्जित है, विद्या मालिन के वेश में चंद का पत्र पृथ्वीराज तक पहुँचाने की राह निकाल लेती है। स्वयं संयोगिता को साधकर वह ऐसा करती है, जिससे संयोगिता के हृदय में भी आत्म-भर्त्सना का भाव पैदा होता है—एक क्षत्राणी होकर भी वह देश के प्रति अपना कर्त्तव्य भूलकर लांछन और कलंक का कारण बन रही है। उसकी गतिविधियों का क्षेत्र बहुत व्यापक है। जालपादेवी के पुजारी बेनीदत्त के साथ, पुरुष वेश में गोरी के युद्ध-शिविर में पहुँचकर वह पृथ्वीराज तक सारी आवश्यक सूचनाएँ भिजवाने की व्यवस्था करती है। पराजित और हताश पृथ्वीराज के जैसे समस्त संचालन-सूत्र वह अपने हाथ में ले लेती है। उसके पिता-तुल्य चंद जालंधर में बंदी हैं। युवराज रैनसी उसकी बुद्धि और सौंदर्य से अभिभूत है। अपने प्रति उसके मोह को समझकर वह उसे अपने बाप का ही बेटा होने के लिए प्रताड़ित करती है। कवि-पुत्र जल्हन की ऐसी मोहाविष्टता को देखकर वह उससे मर्यादित आचरण का अनुरोध करती है... "मुझे सब ज्ञात है, किंतु वह मनुष्य, जो देश के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता, केवल मेरी घृणा का ही पात्र हो सकता है। समझे कुमार? राजकवि ने मुझे यही शिक्षा दी है कि देश सर्वोपरि है, देश के प्रति अपना कर्तव्य सर्वोपरि है।..." (वही, पृ. 121) और फिर महाकवि चंद की अपूर्ण कविता के वाचन द्वारा, केतकी के प्रतीक के रूप में, वह हरीतिका को उल्लास और अलंकार को कंटक मानकर आत्मा के श्वेत पुष्प खिलने की आकांक्षा व्यक्त करती है।

पृथ्वीराज और गोरी के बीच हुए युद्ध को निर्णायक मानकर जब चंद इस बात पर दुःखी है कि वे स्वयं इस युद्ध में हाहुली हमीर द्वारा छलपूर्वक अपने बंदी बनाए जाने के कारण, भाग नहीं ले सके तो विद्या जैसे उनके अमर्ष को भी धोने का प्रयत्न करती है, "क्षमा करें पिताजी, मैं तो इस युद्ध को निर्णायक अथवा अंतिम युद्ध नहीं मानती। इतना मैं अवश्य मानती हूँ कि यह एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण युद्ध था, जिसमें हम अपनी त्रुटियों के कारण ही पराजित हो गए। किन्तु हमारी पराजय ने सदा-सदा के लिए हमारे, हमारे देश के भाग्य का निपटारा कर दिया यह कैसे कहा जा सकता है, पिताजी? देश कोई एक शासन अथवा कोई एक राजा तो नहीं है, कि उसका पतन सदा-सदा के लिए देश अथवा देश की विशाल जनता का पतन हो जाए?..." (वही पृ. 122/123) देश की युवा-पीढ़ी के रूप में वह युवराज रैनसी और कवि-पुत्र जल्हन को संगठित और संचालित करती है।

आषाढ़ का एक दिन की अपेक्षा भैरव प्रसाद गुप्त का *चंदबरदाई* ऐतिहासिक

पात्रों और घटना प्रसंगों को अधिक स्वीकृति देता है। फिर भी वह अनेक नई उद्भावनाएँ करता है, ऐसे नये पात्रों को प्रस्तुत करता है, जिनकी उपस्थिति का कोई पुष्ट ऐतिहासिक आधार न होने पर वे प्रायः ही इतिहास की सोच और सीमाओं के बाहर नहीं आते। अपने ऐतिहासिक उपन्यासों की रचनावस्तु के प्रसंग में राहुल सांकृत्यायन ने इस ओर संकेत किया है कि पुष्ट और इतिहास की दृष्टि से प्रतिष्ठित और प्रामाणिक घटनाओं की अपेक्षा अप्रतिष्ठित और अल्प परिचित घटना-प्रसंगों का चयन लेखक को अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप उन्हें ढालने की सुविधा प्रदान करता है। पृथ्वीराज और गोरी के बीच तराओरी-तराइन में हुआ युद्ध और उसमें पृथ्वीराज की पराजय के परिणाम-स्वरूप भारत की दासता और पराभव के लंबे दौर की शुरूआत एक ऐतिहासिक और प्रतिष्ठित घटना है। लेकिन इस मूल घटना के चारों ओर बुने गए मिथकीय प्रसंगों में लेखक को पर्याप्त स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करने की छूट मिली है।

पृथ्वीराज और गोरी के युद्ध का प्रसंग लेखक ने पर्याप्त वस्तुपरकता के साथ अंकित किया है। यह वस्तुतः एक ऐसा प्रसंग है, जो थोड़ी-सी भी लेखकीय असावधानी से अपने मूल आशय से भटक जाने की अनेक संभावनाएँ रखता है। अपनी इतिहास-दृष्टि के कारण न तो वह हिन्दू पुनरुत्थानवाद का शिकार हुआ है और न ही किसी भी अनैतिहासिक निष्कर्षों की ओर गया है। जयशंकर प्रसाद भारतीय संस्कृति और इतिहास के मनीषी विद्वान् थे, लेकिन उनके नाटकों में विदेशी आक्रांताओं की तुलना में भारत का पक्ष अनेक प्रकार के पूर्वाग्रहों से ग्रस्त होने के कारण उतना विश्वसनीय नहीं लगता। उसके पक्ष में, उसके वैसा होने के लिए, यही तर्क दिया जा सकता है कि वह स्वाधीनता आंदोलन के दौर में लेखक के कार्य-भार का ही एक अनिवार्य हिस्सा था। ग्रीक, शक, हूण और सारे विदेशी आक्रांता अपनी मूल पहचान खोकर वस्तुतः ब्रिटिश साम्राज्य के क्रूर और निरंकुश प्रतिनिधियों के रूप में ही सामने आते हैं—वैसा कोई उल्लेख किये बिना भी। लेकिन भैरव प्रसाद गुप्त को स्वाधीनता के लिए संघर्ष वाले दौर की यह सुविधा नहीं थी। 1967 में जब यह नाटक लिखा गया था, तब सांप्रदायिक हिन्दुत्व के फ़ासीवादी आग्रह भले ही इतने मुखर न हों, लेकिन उनके अस्तित्व से इनकार करना कठिन है। भैरव प्रसाद गुप्त ने गोरी को उतना ही महत्त्व दिया है जितना इतिहास की दृष्टि से भी अनिवार्य और विवेक-सम्मत है। वस्तुतः कैसे भी पूर्वग्रह से मुक्त रहकर ही उसके चरित्र को अधिक ग्राह्य और विश्वसनीय बनाया जा सका है। वह वीर और साहसी है, लेकिन वह अपनी वीरता और साहस से अधिक पृथ्वीराज और समूचे उत्तर भारत के राजाओं एवं

सामंतों की आपसी कलह, विलास-लीलाओं से और क्षुद्रताओं के कारण जीतता है। लेकिन जीतकर भी पृथ्वीराज के साथ सम्मानपूर्वक पेश आता है और उन्हें अपने अधीन सामंत बनाकर अजमेर का शासक बना देने का प्रस्ताव करता है। पृथ्वीराज की आँखें निकलवाकर उनकी क्रूरतापूर्ण हत्या का जो मिथक इस प्रसंग में स्वीकार्य रहा है, भैरव प्रसाद गुप्त उसे नहीं स्वीकारते। गोरी की राजसभा में अंधे पृथ्वीराज द्वारा बाण-परीक्षा, चंद द्वारा पढ़ी गयी प्रसिद्ध काव्योक्ति आदि के मिथकीय प्रसंग नाटक में नहीं हैं। पृथ्वीराज जालंधरी देवी के मंदिर के पुजारी बेनीदत्त की सहायता से शिविर के बंदीगृह से भागने के प्रयास में पकड़े जाते हैं और गोरी द्वारा नहीं उसके सरदारों—आलम और हुजाब द्वारा समाप्त कर दिए जाते हैं। गोरी चंद के विषय में भी सुन चुका है और उससे भेंट की इच्छा व्यक्त करता है, लेकिन उसके सरदारों और संतरियों के षड्यन्त्र द्वारा उसे अजमेर के शिविर में आग लगाकर उसकी हत्या कर दी जाती है। लेकिन नाटक के इस निराशपूर्ण अंत के बाद भी, जैसा कि संकेत किया जा चुका है, विद्या, युवराज रैनसी और कविपुत्र जल्हन युवा पीढ़ी के प्रतिनिधि रूप में इस प्रतिरोध को जारी रखते हैं। वे कोशिश करते हैं कि पृथ्वीराज की पराजय और पृथ्वीराज तथा कवि चंद की मृत्यु भारत के प्रतिरोध और संकल्पों की मृत्यु न सिद्ध हो, क्योंकि देश किसी एक व्यक्ति से बहुत बड़ा होता है। सामंती समाज-व्यवस्था की सारी दुर्वलताओं को उद्घाटित करते हुए भी *चंदबरदाई* देश और समाज की चिंताओं और संकल्पों को वाणी देने के कारण ही मोहन राकेश के *आषाढ़ का एक दिन* से भिन्न व्यापक और बृहत्तर संदर्भों का नाटक वन सका है। वस्तुतः ये संदर्भ ही कालिदास और चंद को दो भिन्न नायकों का रूप देते हैं। ऐतिहासिक स्थितियाँ कालिदास के पक्ष में होने पर भी अपनी रचना-दृष्टि और वैचारिक आग्रहों के कारण मोहन राकेश अपने कालिदास को अपने से वहुत भिन्न और अलग रखकर प्रस्तुत नहीं कर पाते। एक व्यक्ति के रूप में मोहन राकेश के अपने स्खलन और अंतर्विरोध उनके कालिदास पर भी आरोपित कर दिए गए हैं।

एक लंबे अरसे से यह बात दोहराई जाती रही है कि कैसे भी रंग-आंदोलन के अभाव में हिन्दी-क्षेत्र में नाट्य लेखन की स्थिति बेहद असंतोपजनक रही है। मराठी और वाङ्ला में रंगमंच के विकास के जैसे व्यवस्थित और योजनाबद्ध प्रयास हुए, वैसे हिन्दी में नहीं हुए। जो थोड़ा-बहुत इस क्षेत्र में हुआ भी, वह प्रायः हिन्दी में ही सीमित होकर रह गया—राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की उपस्थिति और ऐसे ही कारणों से। स्पप्ट है कि ये सुविधाएँ इलाहाबाद में भैरव प्रसाद गुप्त को नहीं मिल सकती थीं। एक नाटक के रूप में, नाटक के रचना-विधान

की दृष्टि से *चंदबरदाई* एक पर्याप्त विशृंखलित नाटक है, जिसका विस्तार जयशंकर प्रसाद के नाटकों की तरह ही रंग-विधान की व्यावहारिक कठिनाइयों के प्रति उदासीनता का साक्षी है। भैरव प्रसाद गुप्त को रंगमंच की व्यावहारिक समस्याओं का वैसा ज्ञान नहीं था, जैसा मोहन राकेश को था। *आषाढ़ का एक दिन* तीन अंकों का नाटक है, जो दृश्यों में विभाजित नहीं है और लगभग एक दशक के अंतराल में घटित वे तीनों अंक सिर्फ़ एक सेट पर प्रस्तुत किए गए हैं—मल्लिका के घर में। नाट्य विधान की यह सजगता ही नाटक को एक सुगठित नाटक में बदलती है। *आषाढ़ का एक दिन* की आरम्भिक नाट्य प्रस्तुतियों के दौरान, चाहे वे दिल्ली में हुई हों या कलकत्ता में, मोहन राकेश निरन्तर निदेशक और अभिनेताओं के सम्पर्क में बने रहे। संवाद और मंच पर अभिनेताओं की उपस्थिति की कठिनाइयों का उन्होंने गहराई से अध्ययन किया था। दिल्ली में इब्राहिम अल्काजी और कलकत्ता में श्यामानंद जालान उनके मित्र जैसे थे, जिनसे नाटक के मंचन-संबंधी समस्याओं पर वे खुलकर बात कर सकने की स्थिति में थे। अपने लेखन में अनेक मुद्दों पर बहुत जिद्दी माने जाने के बावजूद मोहन राकेश रंग-विधान संबंधी हस्तक्षेप को लेकर पर्याप्त उदार दिखाई देते हैं।

स्पष्टतः ही ये सारी सुविधाएँ भैरव प्रसाद गुप्त को उपलब्ध नहीं थीं। कदाचित् उनके आग्रह भी वैसे नहीं थे। यही कारण है कि *चंदबरदाई* रंग-चेतना का ऐसा सघन साक्ष्य नहीं बन सका है। सात अंकों में विभाजित इस नाटक में कभी-कभी अंकों को दृश्यों में भी बाँट लिया गया है। नाटक का आरंभ चंद के भवन के पिछले भाग के उद्यान से होता है और फिर धीरे-धीरे खुलकर कन्नौज में जयचंद की राजसभा, और दूसरे अंक के ही अगले दृश्य में राज अतिथिशाला तक फैल जाता है। इसी प्रकार आगे के अंक भी चंदबरदाई के निवास, महाराज पृथ्वीराज का रंग-भवन, राजसभा और फिर जालंधर में हाहुली हमीर की राजसभा और जालपादेवी के मंदिर तक फैले हुए हैं। आगे भी ये घटना-स्थल युद्ध शिविर के अस्थायी बंदीगृह से लेकर अजमेर तक फैले हुए हैं। रंग-मंच पर नाटक को प्रस्तुत किए जाने में लगभग उसी प्रकार की कठिनाइयाँ सामने आती हैं, जिनके कारण जयशंकर प्रसाद के नाटकों के संदर्भ में यह विवाद आज भी बना हुआ है कि वे रंग-विधान की दृष्टि से कहाँ तक एक विधा के रूप में नाटक की अपेक्षाओं को पूरा करते हैं। ऐसा नहीं है कि जयशंकर प्रसाद के नाटकों की मंचीय प्रस्तुतियाँ हुई ही न हों, लेकिन वे निदेशकों और अभिनेताओं से अतिरिक्त परिश्रम की अपेक्षा तो रखती ही हैं। इस परिश्रम के बाद भी उनकी सफलता हमेशा ही असंदिग्ध नहीं होती।

चंदबरदाई में दिए गए मंच-संकेत अभिनय की दृष्टि से उसे उतने कठिन पाठ में नहीं बदलते, जितने जयशंकर प्रसाद के नाटक प्रायः दिखाई देते हैं। संवाद छोटे और प्रभावपूर्ण हैं और प्रसाद के नाटकों के संवादों की भाषा की अपेक्षा अधिक ग्राह्य हैं और जिन्हें छोड़े अथवा परिवर्तित किए बिना भी ज्यों का त्यों उपयोग में लाया जा सकता है। नाटक के अन्य सभी पात्रों के संवाद गद्य में हैं, जबकि कवि होने के नाते *चंदबरदाई* के संवाद, धर्मवीर भारती के *अंधा युग* के संवादों की तरह मुक्त छंद में हैं। इसी तरह महाराज पृथ्वीराज के लिए लिखा गया उसका पत्र भी मुक्त छंद में लिखी गई कविता के रूप में है। ...भैरव प्रसाद गुप्त का *चंदबरदाई* हिन्दी रंग-आंदोलन को उस रूप में प्रभावित नहीं करता, जैसे राकेश के ही *आषाढ़ का एक दिन* और *लहरों के राजहंस* या फिर जगदीश चंद्र माथुर का *कोणार्क* और धर्मवीर भारती का काव्य-नाटक *अंधा युग* करते दिखाई देते हैं। उसकी यह सीमा भैरव प्रसाद गुप्त के हिन्दी रंग-आंदोलन से जुड़ाव के अभाव का ही परिणाम है। लेकिन उस दौर में लेखक की सामाजिक और राष्ट्रीय संलग्नताओं को *चंदबरदाई* जितने स्पष्ट रूप में उद्घाटित करता है, वस्तुतः उसी में उसका वास्तविक महत्त्व निहित है।

भैरव प्रसाद गुप्त को अपनी प्रिय और मुख्य विधाएँ उपन्यास और कहानी थीं। जैसे अपने लेखन के आरंभिक दौर में उन्होंने कविताएँ भी लिखीं इसी तरह कथा-रचना के क्षेत्र में गंभीरता से संघर्ष करने के पूर्व उन्होंने कुछ एकांकी भी लिखे, जो सन् '43 में *कसौटी* नाम से प्रकाशित हुए। हिन्दी एकांकी के विकास में इसे किसी गंभीर हस्तक्षेप का उदाहरण नहीं माना जा सकता। इस संकलन के अधिकतर एकांकी अपनी प्रकृति में उद्देश्य प्रधान हैं, जो सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों पर केंद्रित हैं।

अपने घर परिवार को चलाने और चलाये रखने के लिए आय के सुनिश्चित स्रोतों की तलाश ज़रूरी होती है। अपने काफ़ी-कुछ अड़ियल और सैद्धांतिक आग्रहों वाले स्वभाव के कारण नौकरी पाकर भी लंबे समय तक उसे बनाए रख पाना उनके लिए कठिन था। इसीलिए उनकी किसी भी नौकरी की अवधि बहुत लंबी नहीं रही। घर परिवार को बचाए रखने के लिए जब-तब उन्हें ऐसे काम भी करने होते थे, जिनसे तत्काल आर्थिक लाभ की संभावना दिखाई देती थी। उनके द्वारा लिखे जानेवाले रेडियो-नाटक अधिकांशतः इसी उद्देश्य से लिखे गए।

रेडियो-नाटक एकांकी और पूर्णकालिक नाटक से भिन्न और स्वतंत्र विधा है। नाटक और एकांकी दृश्य काव्य के अंतर्गत आते हैं, जबकि रेडियो नाटक एक श्रव्य गद्य रूप है, जिसमें पात्रों की सशरीर उपस्थिति और आतंरिक क्रियाओं

की अपेक्षा उनकी आवाज़ और अन्य ध्वनियों का ही महत्त्व होता है, क्योंकि रेडियो से प्रसारित होते समय कहा हुआ केवल सुना जा सकता है, देखा नहीं जा सकता। इन रेडियो-नाटकों के लिए एक ओर उन्होंने यदि अन्य महत्त्वपूर्ण लेखकों की रचनाओं का नाट्य रूपांतर किया तो अपनी भी अन्य विधाओं की रचनाओं को रूपांतरित करके रेडियो-नाटकों का रूप दिया। विश्व के प्रसिद्ध लेखकों में उन्होंने शेक्सपीयर, आस्कर वाइल्ड, चेखव, दोस्तोयव्स्की और गोर्की आदि की रचनाओं को आधार बनाकर रेडियो-नाटकों की रचना की। बाङ्ला लेखक माणिक बन्द्योपाध्याय के प्रसिद्ध उपन्यास *पद्मानदीर माझी* का रेडियो रूपांतर भी उन्होंने किया–जिसे कभी अपने ही संपादन में निकलने वाले मासिक 'उपन्यास' में उन्होंने प्रकाशित किया था। स्वयं अपनी रचनाओं में उन्होंने अनेक कहानियों और उपन्यासों को इसके लिए इस्तेमाल किया। *पियानो और सोने का पिंजड़ा* उन्हीं की कहानी 'सोने का पिंजड़ा' पर आधारित उनका महत्त्वपूर्ण रेडियो नाटक है, जिसका अनुवाद और प्रसारण संसार की अनेक भाषाओं में हुआ है। अपने उपन्यास *गंगा मैया* और नाटक *चंदबरदाई* के रेडियो रूपांतर भी उन्होंने किए। जैसा कि कहा जा चुका है रेडियो-नाटक अपने में एक स्वतंत्र रचना रूप है, जिसमें संवादों की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है, क्योंकि उन सुने हुए संवादों के माध्यम से ही कथानक और पात्रों के क्रिया-कलापों का अनुमान लगाकर आगे बढ़ना होता है। अपनी रचना-वस्तु के अनुरूप पात्रानुकूल भाषा में, उर्दू और भोजपुरी शब्दों, लोकोक्तियों, मुहावरों और सूक्तियों के प्रयोग से वे इस काम को सफलतापूर्वक करते हैं। चूँकि ये रेडियो नाटक उनके मूल रचना-कर्म का अविभाज्य अंग नहीं रहे, उनके सामाजिक-राजनीतिक आग्रह भी यहाँ उतने मुखर नहीं हैं। उनके रचनात्मक आशयों की दृष्टि से उत्पल दत्त के नाटकों के उनके अनुवाद–*हमारे लेनिन* और *अजेय वियेतनाम*–अधिक महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय माने जा सकते हैं।

संपादकीय अंतर्दृष्टि

किसी पत्रिका का संपादन कैसे संपादकीयविवेक, अंतर्दृष्टि और नैतिक साहस की अपेक्षा रखता है, इसे भैरव प्रसाद गुप्त के ही उपन्यासों *धरती* और *भाग्य-देवता* के नायकों के उदाहरण से समझा जा सकता है। यह अकारण नहीं है कि उनके ये चरित-नायक पत्रकारिता और संपादन के दायित्व को गहरी निष्ठा के साथ ग्रहण करते हैं और एक मिशनरी उत्साह से उसे सम्पन्न करते हैं। इस अर्थ में भैरव प्रसाद गुप्त बालकृष्ण भट्ट, महावीर प्रसाद द्विवेदी, बाबू राव विष्णु पराडकर और किसी सीमा तक यशपाल की परम्परा के संपादक थे, जो अपने पाठकों को दीक्षित करना संपादक का महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य मानते थे। वे इस तर्क को अस्वीकार करते हैं कि संपादक वही देगा, जो पाठकों की माँग होगी। इस तर्क प्रणाली को वे वस्तुतः पूंजीवादी *अर्थव्यवस्था द्वारा गढ़ा गया तर्क* मानते हैं, जो उत्तेजना, हिंसा और नग्नता को बढ़ावा देकर पाठकों की साहित्यिक-सांकृतिक अभिरुचियों को विकृत करके अपसंस्कृति के प्रसार के पक्ष में जाता है। इसी उद्‌देश्य से इसका उपयोग भी किया जाता है।

भैरव प्रसाद गुप्त की सीमा यह थी कि आर्थिक कारणों से वे अपना पत्र निकालने की स्थिति में नहीं थे। उन्हें प्रायः ही बड़े पूँजीवादी संस्थानों में संपादक के रूप में कार्य करते हुए ही अपने संपादकीय विवेक और ऊर्जा का उपयोग करना था। यहाँ पूरी तरह अपनी मन-मर्जी से स्वतंत्रतापूर्वक संपादन की सुविधा उन्हें नहीं थी। पाठकों के संस्कार-निर्माण और उन्हें दीक्षित करने का काम वे एक सीमा के अंदर ही कर सकते थे—उतनी ही दूर तक, जितना वह मालिकों के आर्थिक हितों के विरोध में न जाए। मालिकों की दृष्टि ऐसे संपादकों की दृष्टि से मूलतः और गुणात्मक रूप में भिन्न होती है। उन्हें सरकारी नीतियों और दुनियादारी का ख़याल रखकर चलना होता है।

भैरव प्रसाद गुप्त के लिए संपादक की स्वतंत्रता का सवाल एक ऐसा मुद्दा था जिसके कारण वे कहीं और कभी सुस्थिर और सुरक्षित रूप में काम नहीं कर सके। संपादक के लिए अपनी विचारधारा के उपयोग की छूट के संबंध में उनकी टिप्पणी है, "मेरे विचार से संपादन और किसी भी काम से अलग एक रचनात्मक काम है। संपादक को अपना नाम देना होता है और उसके संपादन में निकलनेवाली पत्रिका में उसकी नीति, विचार, दृष्टि तथा उद्देश्य का पता चलता है। इसीलिए संपादक अपनी स्वतंत्रता की माँग करते हैं..." (मेरी साहित्य-यात्रा, 'लेखन' 3/4, भैरव प्रसाद गुप्त पर केंद्रित अंक, पृ. 37) संपादक की इसी स्वतंत्रता के लिए किए जानेवाले संघर्ष के विविध रूप उनके उल्लिखित उपन्यासों के नायकों में देखे जा सकते हैं।

एक संपादक के रूप में अपने कैरियर की शुरूआत भैरव प्रसाद गुप्त ने सन् '44 में 'माया' से की। यहाँ वे सन् '53 तक रहे। इसके बाद, अपने दूसरे दौर में भी सन् '75 से '80 के बीच, उन्होंने इसके संपादकीय विभाग में कार्य किया। जब उन्होंने इस काम को शुरू किया तब माया-प्रेस इलाहाबाद की पत्रिकाएं 'माया' और 'मनोहर कहानियाँ' मूलतः मनोरंजनधर्मा हल्की-फुल्की कहानियों की पत्रिकाएं थीं, जिनका गंभीर और सुरुचिसम्पन्न पाठकों के बीच कोई मान नहीं था। जब भैरव प्रसाद गुप्त 'माया' में आए तो प्रेमचंद के एक संबंधी राजेश्वर प्रसाद सिंह के साथ इस पत्रिका का संपादन करके उन्होंने इन पत्रिकाओं की प्रकृति ही जैसे बदल दी। हिन्दी के प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण कहानीकारों को उन्होंने इनसे जोड़ा और महत्त्वपूर्ण विदेशी कहानियों के अनुवाद की शुरूआत की। उनका पहला उपन्यास *शोले* धारावाहिक रूप से 'मनोहर कहानियाँ' में ही प्रकाशित हुआ और छः महीने में पत्रिका का सर्कुलेशन दुगुना हो गया। सन् '48 में *माया* का होली-विशेषांक साठ हज़ार प्रतियों का निकला और शीघ्र ही पंद्रह हज़ार प्रतियों का उसका दूसरा संस्करण निकाला गया। हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता के इतिहास में यह कदाचित् एक चामत्कारिक घटना थी। इसी वर्ष सन् '48 में ही; ख़्वाज़ा अहमद अब्बास की विवादास्पद कहानी 'सरदारजी' माया में प्रकाशित हुई जिस पर सरकार ने सांप्रदायिकता के आरोप में मुक़दमा चलाया। इस कहानी पर सिखों की धार्मिक भावनाओं को आहत करने का लांछन लगाया गया। इसी के विरुद्ध संघर्ष के लिए इलाहाबाद में 'लेखक सुरक्षा समिति' का गठन हुआ, जिसमें लेखकों ने लेखक के पक्ष में समर्थन और संघर्ष की अभूतपूर्व एकजुटता का प्रदर्शन किया।

इसके बाद श्रीपतराय द्वारा संचालित और संपादित 'कहानी' मासिक में

उन्होंने छः वर्ष सन् '55 से सन् '60 तक संपादक के रूप में कार्य किया। हिन्दी कहानी के विकास और 'नयी कहानी' के आंदोलन की दृष्टि से 'कहानी' के महत्त्व का उल्लेख प्रायः ही किया जाता रहा है। सन् '55 और सन् '56 में प्रकाशित उसके वार्षिक अंक अपने ऐतिहासिक महत्त्व के कारण आज भी मील के पत्थर के रूप में स्वीकृत हैं। विभिन्न भारतीय भाषाओं के महत्त्वपूर्ण कहानीकारों को एक मंच पर लाने का काम 'कहानी' ने किया। भैरव प्रसाद गुप्त 'नयी कहानी' के आंदोलन के परिणामस्वरूप कहानी में विकसित होनेवाले रोमानी रुझान, व्यावसायिकता और कहानी की सामाजिक चेतना की उपेक्षा करके पनपने वाली रूपवादी प्रवृत्तियों के विरोधी थे। नयी कहानी की विवादास्पद त्रयी—मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव और कमलेश्वर अपने स्वयंभू नेतृत्व से कहानी को जो दिशा देने की कोशिश कर रहे थे, भैरव प्रसाद गुप्त उस स्थिति से क्षुब्ध थे। इसी दौर में लिखे गए अपने एक पत्र में, इन लोगों की गतिविधियों पर टिप्पणी करते हुए किंचित् आक्रोश के साथ उन्होंने मुझे लिखा था, "...सच पूछिए तो इन लोगों की बहुत सारी बातें मेरी समझ में नहीं आतीं। हिन्दी कहानी को इन लोगों ने अपने कपटोपाय से कितना ज़लील और बाज़ारू बना दिया है। देखकर दुःख होता है। ये लेखक इस तरह व्यावसायिकता के चक्कर में अपने को डाल लेंगे, मैं सोचता भी न था। उस समय ऐसा सोचने का अवसर भी न था क्योंकि कहानी में, आप जानते हैं, जो प्रगतिशीलता और सामाजिकता का स्वर उठा था और वह कोई साधारण न था। मुझे क्या मालूम था कि पूँजीवाद का सर्वग्रासी दैत्य इन्हें इतनी आसानी से निगल जायेगा। लेकिन शायद यही होता है..." (*आज की हिन्दी कहानी : विचार और प्रतिक्रिया,* पृ. 103)

लगभग इसी प्रकार की प्रतिक्रिया उन्होंने इलाहाबाद में सम्पन्न साहित्यकार-सम्मेलन की एक गोष्ठी के संदर्भ में स्वयं मोहन राकेश को लिखे गए अपने एक पत्र में व्यक्त की थी ..."साहित्यकार सम्मेलन की गोष्ठी का स्तर गिराने के लिए किसी एक को दोषी ठहराना उचित नहीं। मैं तो शायद कुछ मिनटों के लिए ही उसका दर्शक रहा। उस समय तुम्हीं बोल रहे थे और मुझे यह कहने में तनिक भी हिचक नहीं कि तुम्हारी बातों से मुझे बड़ी निराशा हुई थी... तरुण लेखकों के हाथों में मूल्यांकन सौंपा जाएगा, परिणाम यही होगा, ठीक एक बाज़ार के दुकानदारों की तरह, जिनमें हर-एक अपने माल की प्रशंसा करता है..." (*राकेश और परिवेश : पत्रों में* (सं.) जयदेव तनेजा, पृ. 494) यहाँ तरुणों को मूल्यांकन सौंपे जाने के संदर्भ में यह भ्रम हो सकता है कि भैरव प्रसाद गुप्त साहित्य में नवीन प्रतिभाओं के प्रति आश्वस्त नहीं थे। जबकि स्थिति इससे पूरी

तरह विपरीत थी। यहाँ तरुणों से उनका आशय नयी कहानी की इसी विवादास्पद त्रयी से है, जो आत्म प्रचार के द्वारा इस पूरे आंदोलन को एक ग़लत दिशा में मोड़ने का उपक्रम कर रही थी और उसमें तात्कालिक रूप से सफल भी हो रही थी। कहानी में घटित इस विचलन और भटकाव से भैरव प्रसाद गुप्त कहीं गहरे तक विचलित थे। कहानी में प्रगतिशीलता और सामाजिकता का क्षरण, एक संपादक के रूप में उनकी मुख्य चिंता थी। भारतीय भाषाओं के कहानीकारों में मंटो, समरेश बसु और अरुणा भाऊ साठे उनकी विशेष पसंद थे। अपने संपादन काल में उन्होंने 'कहानी' में इनकी अनेक महत्त्वपूर्ण कहानियाँ प्रकाशित कीं। इलाहाबाद की साहित्यिक गोष्ठियों और 'कहानी' के माध्यम से अमरकांत की खोज का श्रेय भी भैरव प्रसाद गुप्त को ही दिया जाता है।

सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद से ही, 'कहानी' की सहयोगी पत्रिका के रूप में, सन् '56 में श्रीपतराय और भैरव प्रसाद गुप्त के संयुक्त संपादन में 'उपन्यास' नामक मासिक की शुरूआत हुई। यहाँ भी उपन्यासों और लेखकों के चयन में भैरव प्रसाद गुप्त की संपादकीय अंतर्दृष्टि को देखा जा सकता है। पत्रिका की शुरूआत मराठी लेखक दत्त रघुनाथ कवठेकर के उपन्यास *रेशम की गाँठें* से हुई। पहले भी उल्लेख किया जा चुका है कि सआदत हसन मंटो गुप्त जी के प्रिय लेखक थे। 'कहानी' के सन् '55 के वार्षिकांक में वे उनकी सुप्रसिद्ध कहानी *टोबा टेक सिंह* छाप चुके थे। उसके बाद ही पाकिस्तान में मंटो का असामयिक निधन हुआ। 'उपन्यास' के दूसरे अंक में भैरव प्रसाद गुप्त ने मंटो का एक मात्र उपन्यास *बग़ैर उनवान, राजो और मिस फ़रिया* के नाम से छापा। चूंकि आकार की दृष्टि से उपन्यास बहुत छोटा था, उसके साथ मंटो के जीवन और रचना-कर्म पर एक महत्त्वपूर्ण निबंध था, उनकी कुछ कहानियाँ थी तथा और भी कुछ महत्त्वपूर्ण सामग्री थी, जो मंटो को समझने की दृष्टि से उपयोगी थी। भैरव प्रसाद गुप्त पर लिखे गए अपने संस्मरण में मैंने इस ओर संकेत किया है कि हिन्दी में मंटो को प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत किए जाने की यह वस्तुतः ऐतिहासिक शुरूआत थी। 'उपन्यास' में हर माह एक उपन्यास छपता था, लेकिन छोटे होने पर कभी दो भी छपते थे और बड़ा होने पर एक ही उपन्यास दो अंकों में भी दिया जाता था। हिन्दी लेखकों में बलवंत सिंह और गिरीश अस्थाना के उपन्यासों के अतिरिक्त कृष्ण बलदेव वैद का सुप्रसिद्ध उपन्यास *उसका बचपन* पहली बार इसी पत्रिका में छपा था। विदेशी भाषाओं से अनुवादित उपन्यासों में वाल्तेयर के *कैंदीद* और ऐलन पेटन के *क्राई द बिलवेड कंट्री* जैसे उपन्यास प्रकाशित हुए। *कैंदीद* का अनुवाद *भगवान की मर्ज़ी* नाम से भदन्त आनंद कौसल्यायन

ने किया था। उसके साथ परिचयात्मक संपादकीय टिप्पणी के अतिरिक्त कर्नल इंगर सोल द्वारा लिखित 'वाल्तेयर' नामक निबंध भी था। लेखकों का प्रमाणिक परिचय, सामान्यतः उसी भाषा के किसी महत्त्वपूर्ण लेखक द्वारा, इन अनुवादों की उल्लेखनीय विशेषता थी। 'उपन्यास' द्वारा भारतीय भाषाओं के श्रेष्ठ अनुवाद प्रकाशित करके हिन्दी के भण्डार की श्रीवृद्धि के साथ ही एक सांस्कृतिक अभियान के रूप में इसका अपना महत्त्व है। अपनी तीन वर्षों की प्रकाशन-अवधि में 'उपन्यास' ने प्रेमेंद्र मित्र, अरुणाभाऊ साठे, ईश्वर पेटलीकर, व्यंकटेश माडगूलकर, सुबोध घोष और मानिक वन्द्योपाध्याय आदि लेखकों के उपन्यास प्रकाशित किए। इसी पत्रिका में पहली बार मानिक बाबू के दोनों महत्त्वपूर्ण उपन्यास—*पद्मानदीर माझी* और *पुतुल नाचेर इतिकथा*—प्रकाशित हुए थे। इस संक्षिप्त और अपूर्ण सूची से ही एक पत्रिका के रूप में 'उपन्यास' के वास्तविक महत्त्व को समझा जा सकता है। यह काम भैरव प्रसाद गुप्त ने तब किया, जब भारतीय ज्ञानपीठ, साहित्य अकादेमी और नेशनल बुक ट्रस्ट जैसी संस्थाएँ इस ओर अधिक सक्रिय नहीं थीं। कहानी में प्रगतिशीलता और सामाजिकता वाला अपना संपादकीय आदर्श वे उपन्यास पर भी लागू करते हैं। एक संपादक के रूप में रचना के महत्त्व के प्रति उनकी दृष्टि कितनी पैनी और अचूक थी, इसे वैद के *उसका बचपन* के प्रसंग में देखा जा सकता है।

'कहानी' के माध्यम से भैरव प्रसाद गुप्त ने प्रयोगवादियों और परिमलवादियों से लंबा वैचारिक संघर्ष किया। आपसी मतभेदों के कारण 'प्रगतिवादी लेखक संघ' या तो निष्क्रिय था, या फिर भटकाव और विचलन का शिकार था। वस्तुतः प्रयोगवादियों ने 'परिमल' का गठन किया था और उसके माध्यम से वे लोग प्रगतिवाद विरोधी गतिविधियों में सक्रिय थे। कविता की ओर से निराश होकर भैरव प्रसाद गुप्त कहानी में संभावनाएँ तलाश रहे थे। यही वह समय था, जब हिन्दी में पुरानी पीढ़ी के बाद नए और संभावनाशील लेखकों की अगली पीढ़ी मंच पर आ चुकी थी... "इन्हें तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं के प्रगतिशील कहानीकारों को एक मंच पर संगठित करने की आवश्यकता थी और 'कहानी' के माध्यम से यही किया गया। हम यह भी समझते थे कि कहानी सर्वाधिक लोकप्रिय विधा है और इसके माध्यम से हम प्रयोगवादी कविता को जो पाठकों से एकदम कटी हुई थी, अपदस्थ कर सकते थे...' (लेखन 3/4, पृ. 29) भले ही बाद में 'नयी कहानी' का आंदोलन भैरव प्रसाद गुप्त के हाथ से निकलकर नयी कहानी की विवादास्पद त्रयी के हाथों में चला गया, लेकिन कहानी को केंद्रीय विधा के रूप में स्वीकृति के भैरव प्रसाद गुप्त के इस संघर्ष को अनदेखा नहीं किया जा सकता।

'कहानी' का संपादन उन्होंने लगभग छः वर्ष तक किया, लेकिन बाद में नीतिगत मतभेद के कारण उन्हें 'कहानी' से अलग होना पड़ा। इस प्रसंग पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा है, "1959 के अंत में श्रीपत राय ने रामनारायण शुक्ल के सहयोग से 'कहानी' को एक व्यावसायिक पत्रिका बनाने का निर्णय लिया। मुझे जब यह मालूम हुआ तो मैंने 1 जनवरी, 1960 को इस्तीफ़े के साथ पंद्रह दिन का नोटिस दे दिया। श्रीपत राय ने मुझे 13 जनवरी को ही पंद्रह दिन की तनख़्वाह देकर मुक्त कर दिया..." (वही, पृ. 30)

इसी दिन कार्यालय में उन्हें राजकमल प्रकाशन, दिल्ली के तत्कालीन संचालक ओम प्रकाश का तार मिला, जिसमें उनसे कहीं और नियुक्ति न लेने का अनुरोध किया गया, क्योंकि अगले दिन ही वे बात करने के लिए इलाहाबाद आ रहे थे। 14 जनवरी को ओम प्रकाश इलाहाबाद आए, भैरव प्रसाद गुप्त से बात हुई और 15 जनवरी को ही उन्होंने 'नई कहानियाँ' का संपादन-भार संभाल लिया।

चार महीने की तैयारी के बाद 'नई कहानियाँ' का प्रवेशांक मई '60 में निकला। पत्रिका राजकमल प्रकाशन जैसे प्रतिष्ठित संस्थान से निकली थी और हिन्दी प्रकाशन में गहरी साहित्यिक समझ-बूझ रखनेवाले ओम प्रकाश उसके प्रबंध-संपादक थे। जब यह प्रवेशांक आया तो यह वह दौर था, जब 'नई कहानी' आंदोलन अपने शिखर पर था। अपने प्रथम संपादकीय में भैरव प्रसाद गुप्त ने यह सवाल उठाया कि अब 'नई कहानियाँ' क्यों? और इसका उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा, "इसका उत्तर आज के सभी जीवन्त कहानीकारों का वह अतुल उत्साह, अपार हर्ष, अपरिमित सहयोग-भावना तथा असीम विश्वास है, जिसके साथ उन्होंने 'नई कहानियाँ' के आगमन का दिल खोलकर, एक त्योहार की भाँति स्वागत किया है और इसके लिए मंगलकामनाओं के साथ कम-से-कम समय में अपनी रचनाएँ भेजी हैं। इसके लिए कृतज्ञता-ज्ञापन का हमारे पास कोई शब्द नहीं, हम उनके सामने केवल विनत हैं।" (नई कहानियाँ, संपादकीय, मई '60)

प्रवेशांक का दस हज़ार प्रतियों का संस्करण छपा था और जो, पत्रिका का चेहरा देखे विना ही विक्रेताओं और ग्राहकों द्वारा पूर्ण विश्वास के साथ पहले ही क्रय कर लिया गया था। इसी संपादकीय टिप्पणी में इसे 'हिन्दी मासिकों के इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना' बताया गया था। एक संपादक के रूप में अपनी चिंता व्यक्त करते हुए भैरव प्रसाद गुप्त ने अपनी इस आकांक्षा को सामने रखा कि यह पाठकों का पत्र बने और लेखकों के लिए इसमें छपना सम्मान-योग्य हो।

प्रवेशांक में प्रकाशित रचनाओं और उनके लेखकों की सूची पर एक सरसरी नज़र मात्र डालने से ही पत्रिका का महत्त्व समझ में आ जाता है। हिन्दी-उर्दू के प्रतिष्ठित कहानीकारों में पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', तेज बहादुर चौधरी, इस्मत चुगताई के साथ कवि-आलोचक आचार्य नलिन विलोचन शर्मा की कहानी भी थी। नई कहानी से जुड़े लेखकों में राजेन्द्र यादव, अमरकांत और शिव प्रसाद सिंह की कहानियाँ थीं। प्रादेशिक भाषाओं के लेखकों में अमृता प्रीतम और देवेश राय थे। इनके अतिरिक्त विदेशी भाषा की कहानी के रूप में जापानी लेखक जूरन हिसाओ की कहानी थी।

भैरव प्रसाद गुप्त जानते थे कि किसी मासिक पत्रिका का मुख्य आकर्षण उसके स्तंभ होते हैं। इसीलिए प्रवेशांक में संपादक की बेहद संतुलित दृष्टि का परिचय देते हुए इन दस कहानियों के अतिरिक्त 'हमारे कहानीकार' शीर्षक से रेणु का स्तंभ शुरू किया गया था, जिसके अन्तर्गत उन्होंने यशपाल पर लिखा था। मोहन राकेश ने समकालीन कहानी पर अपनी प्रतिक्रिया वाला स्तंभ 'बक़लम खुद' इसी अंक से शुरू किया जो लंबे समय तक चालू रहा और बाद में इसी शीर्षक से इन लेखों का पुस्तकाकार प्रकाशन भी हुआ। इन दो स्तंभों के अतिरिक्त धारावाहिक प्रकाशन के रूप में अमृत लाल नागर का *ये कोठेवालियाँ* इसी अंक से शुरू हुआ। कदाचित् उपन्यास के प्रति पाठकों के आकर्षण के कारण या फिर इस रचना की प्रकृति तब स्पष्ट न होने के सबब से, इसे उपन्यास कहकर ही प्रकाशित किया गया।

जैसा कि स्वाभाविक था, पत्रिका का अभूतपूर्व स्वागत हुआ। दस हज़ार प्रतियों वाला पहला अंक कम पड़ गया और बहुत से पाठकों और एजेंटों को वह नहीं मिल सका। इस सफलता को देखकर भैरव प्रसाद गुप्त को भी यह मलाल रहा कि पत्रिका की संभावित सफलता को इतना कम करके आँका गया। उन लोगों ने भी पत्रिका की सराहना करते हुए पत्र लिखे, जो अपने-अपने क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण होने पर भी कहानी से अधिक वास्ता नहीं रखते थे। ऐसे लोगों में गुजराती लेखक कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, हिन्दी के सेठ गोविंददास और कवि बच्चन आदि शामिल थे। पहले अंक की अभूतपूर्व सफलता को देखकर दूसरा अर्थात् जून '60 का अंक पच्चीस हज़ार प्रतियों का छपा। जैसा कि प्रवेशांक की अपनी संपादकीय टिप्पणी में भैरव प्रसाद गुप्त ने लिखा था—हिन्दी मासिक-प्रकाशन के क्षेत्र में यह सचमुच एक चमत्कार जैसा था।

भैरव प्रसाद गुप्त ने 'नई कहानियाँ' का संपादन लगभग ढाई वर्ष तक किया। सितम्बर '62 में उनके संपादन में उसका अंतिम अंक निकला। एक संपादक

के रूप में उनकी मुख्य प्रतिश्रुति एक ओर यदि सामाजिक और प्रगतिशील चेतना का प्रसार था, वहीं पत्रिका को कैसी भी एकरसता और एकरूपता से बचाना भी था। वे पाठकों का मानसिक उन्नयन भी करना चाहते थे और इस तथ्य को भी आँखों से ओझल नहीं होने देते कि उनकी पत्रिका मूलतः कहानी की पत्रिका है और सारे बड़े और व्यापक लक्ष्यों के बावजूद कहानी का मुख्य कार्य मनोरंजन करना है। उनके इस संपादकीय विवेक का ही परिणाम यह था कि पत्रिका में हर स्तर पर एक आश्चर्यजनक संतुलन दिखाई देता है। हिन्दी में नई और पुरानी पीढ़ी के बीच जिस सन्तुलन की शुरूआत उन्होंने प्रवेशांक से की वह अंत तक बना रहा। पुरानी पीढ़ी के लेखकों में उन्होंने उग्र, विनोद शंकर व्यास, यशपाल, अश्क, निर्गुण, अव्वास, कृश्न चंदर, इस्मत चुगताई, वलवंत सिंह और चंद्रकिरण सौनरेक्सा आदि की कहानियाँ प्रकाशित कीं। इसी तरह नई कहानी के प्रायः सभी लेखकों की कहानियाँ प्रकाशित कीं। नई कहानी को उसकी विवादास्पद त्रयी से मुक्ति की दिशा में यह एक उल्लेखनीय और अंतर्दृष्टिसम्पन्न प्रयास माना जा सकता है। उन्होंने मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव और कमलेश्वर का भरपूर रचनात्मक सहयोग लेते हुए इस आंदोलन के अन्य कहानीकारों को भी समुचित महत्त्व देकर नई कहानी को रोमानी रुझानों और आत्मपरकता से वचाने की भरपूर कोशिश की। नई कहानी की मुख्य धारा वाले लेखकों के अतिरिक्त उन्होंने रामनारायण शुक्ल, ओमप्रकाश श्रीवास्तव, विद्यासागर नौटियाल और लक्ष्मीधर मालवीय आदि की कहानियाँ भी प्रकाशित कीं।

इसी तरह प्रांतीय भाषाओं के संदर्भ में उन्होंने साहित्य और संस्कृति के बीच एक सेतु का काम किया। प्रांतीय भाषाओं के अनेक प्रगतिशील कहानीकारों के अनुवाद उन्होंने प्रकाशित किए। इसे 'कहानी' और 'उपन्यास' वाले दौर की संपादकीय अंतर्दृष्टि का विस्तार भी माना जा सकता है। मुल्कराज आनंद, राजिन्दर सिंह बेदी, रज़िया सज्जाद ज़हीर, अमृता प्रीतम, समरेश बसु, एस. के. पोट्टेकोट, गुलज़ार सिंह संधु, संतोख सिंह 'धीर', गुरुनाम सिंह तीर, नारायण गंगोपाध्याय, अरविंद गोखले, शिव कुमार जोशी, गनी सामनाणी आदि अनेक महत्त्वपूर्ण लेखकों की कहानियाँ प्रकाशित कीं। विदेशी भाषाओं में जूरन हिसाओ, पार लागरविस्त, मोराविया, जोआन वार्गेन और मेग्यिा वोन वसेना आदि की अतिरिक्त सिंहली लेखकों को भी छापा, जिनकी ओर तब तक लोगों का ध्यान नहीं गया था।

एक संपादक की हैसियत से भैरव प्रसाद गुप्त इस बात को अच्छी तरह समझते थे कि पत्रिका को जीवन्त और लोकप्रिय बनाए रखने के लिए उसके

स्तंभों की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। प्रवेशांक में ही उन्होंने रेणु और मोहन राकेश के स्तंभों के साथ अमृतलाल नागर की महत्त्वपूर्ण कृति का धारावाहिक प्रकाशन शुरू किया। स्तंभों की यह परम्परा उनके संपादन काल में आगे और भी विकसित हुई, कृश्न चंदर, ख़्वाज़ा अहमद अब्बास, उग्र और नामवर सिंह के महत्त्वपूर्ण स्तंभ उन्होंने प्रस्तुत किए। इन स्तंभों की सामग्री और क्षेत्रों में बहुत व्यापकता और वैविध्य था। कृश्न चंदर का 'कांच के टुकड़े' अख़बारी ख़बरों में से कहानी बनाने का एक प्रयोग था तो अब्बास का 'बोलती कतरनें' अख़बार की ही ख़बरों पर जनता की दृष्टि से की गई टिप्पणियों के रूप में था, जिसमें सरकार की जनविरोधी नीतियों की तीखी आलोचना शामिल थी। उग्र का 'न्यूज़रील' फ़िल्मी दुनिया के ग्लैमर के पीछे के अंधेरे को सामने लाता था जिसके पीछे उस जीवन का उग्र का लंबा अनुभव था। इसी क्षेत्र से संबंधित मंटो का 'मीना बाज़ार' था, जिसमें उन्होंने फ़िल्मी सितारों पर अपने संस्मरण प्रस्तुत किए। मंटो की शैली और उस जीवन की अन्तरंग जानकारी की दृष्टि से आज भी उनका ऐतिहासिक महत्त्व है। नामवर सिंह का 'हाशिए पर' हिन्दी में कहानी की आलोचना की एक ऐतिहासिक शुरूआत माना गया, जिसमें दूसरे लेखकों और पाठकों की व्यापक हिस्सेदारी के सबब से ही उसे कदाचित् एक 'सहयोगी प्रयास' के रूप में लिया गया। 'नई कहानियाँ' में उपन्यासों का धारावाहिक प्रकाशन भी अंत तक बना रहा। नागर जी के *ये कोठेवालियाँ* के अतिरिक्त कृश्न चंदर का *एक वायलिन समन्दर के किनारे* ख़्वाज़ा अहमद अब्बा का *सलमा और समन्दर* एवं बलवंत सिंह का *रावी-पार* प्रकाशित हुए।

एक संपादक के रूप में भैरव प्रसाद गुप्त का महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने अपने लेखकीय आग्रहों को संपादन के क्षेत्र में कभी अकारण हस्तक्षेप नहीं करने दिया। उन्होंने अपने लेखकीय आग्रहों का अतिक्रमण करके पत्रिका का संपादन किया। उनके संपादन में निकली पत्रिकाएँ इसी कारण व्यापक रचनात्मक सहयोग का उदाहरण बन सकीं। एक संपादक के रूप में उनकी सबसे बड़ी सफलता यह थी कि वैचारिक विरोध और मतभेद के बावजूद लोग उनकी पत्रिका में छपना गौरव और सम्मान की बात समझते थे। पत्रिकाओं को उन्होंने खुले और उदार मंच की तरह इस्तेमाल किया, जिसमें निजी अभिरुचियों और पूर्वाग्रहों की भूमिका नगण्य थी। उनकी पत्रिकाएँ उत्कृष्टता और लोकप्रियता के बीच एक कठिन संतुलन का उदाहरण हैं। 'नई कहानियाँ' मूलतः कहानियों की पत्रिका थी, लेकिन उनमें प्रकाशित सामग्री संस्कृति, समाज और साहित्य के बृहत्तर संदर्भों को छूती थी। पाठकों को किसी भी रूप में आतंकित किए बिना वह उनकी

अभिरुचियों में परिष्कार के लिए प्रतिश्रुत थी। कहानी को केंद्र में रखकर उसकी व्यापक स्वीकृति की जो लड़ाई उसने लड़ी, उसके लिए आज भी उसका ऐतिहासिक महत्त्व है। यह अकारण नहीं है कि हिन्दी में कहानी की आलोचना एक संपादक के रूप में भैरव प्रसाद गुप्त के इस रचनात्मक विवेक और अंतर्दृष्टि को ही अपना प्रस्थान-बिंदु मानकर चलती है।

नामवर सिंह का स्तंभ 'हाशिए पर' शुरू करते हुए उन्होंने टिप्पणी की... "और फिर वह समय भी आ गया, जब यह 'खेल' केवल मनोरंजन के लिए नहीं, बल्कि अपने यहाँ कहानी को और गति देने के लिए भी आवश्यक हो गया..." (*नई कहानियाँ,* पहला पृष्ठ, जनवरी '61) यहाँ पाठकों की व्यापक और सक्रिय हिस्सेदारी द्वारा कहानी को गंभीर सामाजिक और रचनात्मक तकाज़ों से जोड़ने की उनकी चिंता स्पष्ट है। कहानी की चर्चा को गुमराह करनेवाले अराजक तत्त्वों पर भी उनकी निगाह बराबर लगी रहती है। राजेन्द्र यादव सहित नई कहानी से जुड़े अनेक लेखों के विचारों को एक खुला मंच देकर उन्होंने कहानी-संबंधी इस चर्चा को गंभीरतापूर्वक आगे बढ़ाया। जब भी मौका मिला कहानी के संबंध में गंभीर आलोचनात्मक सामग्री उन्होंने मुहैया की। मई '61 में रवींद्रनाथ ठाकुर के जन्मशती वर्ष में जहाँ अंक की शुरूआत उन्होंने उनकी कहानी 'अंतिम रात्रि' से की, वहीं उनकी कहानियों पर प्रकाशचंद्र गुप्त का एक लेख भी प्रकाशित किया—'ठाकुर की कहानी-कला'। नई कहानी की आत्मपरक अनुभववादी-धारा के वे विरोधी थे, लेकिन कैसे भी संपादकीय सेंसर द्वारा उन्होंने प्रमुखता से पत्रिका में प्रकाशित किया और हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं की ऐसी कहानियों को उनके सामने रखा, जिनमें प्रगतिशीलता और सामाजिक चिंता का स्वरूप बहुत स्पष्ट था। कहानी के बारे में कोई फ़ैसला किसी बंद कमरे में नहीं लिया गया। उनकी पत्रिका का मंच बहुत-कुछ एक ऐसी खुली अदालत जैसा था, जिसके निर्णयों के पीछे व्यापक सामूहिक हिस्सेदारी की भावना, एक संपादक के रूप में हमेशा उनकी मुख्य चिंता बनी रही।

भैरव प्रसाद गुप्त एक ऐसे संपादक थे, जिन्हें अपने कार्य में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप पसंद नहीं था। पत्रिका उनके लिए हमेशा सामाजिक-सांस्कृतिक परिष्कार का एक माध्यम रही। 'कहानी' से उनके अलग होने के कारण, स्वयं उन्हीं के अनुसार यह था कि श्रीपतराय अपने सहयोगी के रूप में रामनारायण शुक्ल को रखकर पत्रिका को व्यावसायिक रूप में निकालने की योजना बना रहे थे। इस तरह के नीतिगत वैचारिक मतभेद कहीं और कभी पैदा होना अस्वाभाविक नहीं है। उनके संपादन काल में 'नई कहानियाँ' का सर्कुलेशन आश्चर्यजनक रूप

से बढ़ा था। पत्रिका का पहला अंक दस हज़ार प्रतियों का निकला था। लेकिन क्रमशः उसकी प्रसार-संख्या बढ़ने के कारण उसका छठा अंक पिचहत्तर हज़ार प्रतियों का निकला था। पत्रिका के संचालक और प्रबंध संपादक ओम प्रकाश वैसे ही इस स्थिति से चकित थे, जैसे कभी 'कहानी' के संदर्भ में श्रीपत राय हुए थे। ओम प्रकाश के साथ हुए अनुबंध की शर्तों में से एक यह भी थी कि पत्रिका की प्रसार-संख्या एक लाख हो जाने पर ही वेतन-वृद्धि की बात की जाएगी। लेकिन छठे अंक की पिचहत्तर हज़ार प्रसार-संख्या पहुँचने पर ही भैरव प्रसाद गुप्त के आग्रह पर ओम प्रकाश ने उनका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। 'नई कहानियाँ' ही वस्तुतः पहली ऐसी पत्रिका थी, जिसमें भैरव प्रसाद गुप्त के साथ किसी दूसरे संपादक का नाम न होकर वे अकेले थे और संपादकीय उन्हीं के नाम से छपता था। पत्रिका के व्यावसायिक हितों के प्रति वे ख़ूब सचेत थे, लेकिन संपादकीय दृष्टि और नीति-निर्धारण में वे पूरी तरह से स्वतंत्र थे। नई कहानी की विवादास्पद त्रयी के कम से कम दो लेखकों मोहन राकेश और राजेन्द्र यादव से ओम प्रकाश के घनिष्ठ और आत्मीय संबंध थे—ख़ास तौर से राकेश से। लेकिन संतुलन और व्यापक रचनात्मक सहयोग की दृष्टि से पत्रिका ख़ूब सफल थी। लेकिन बाद में, जैसा कि कहा जाता रहा है, किसी लेखिका की कहानी के प्रकाशन को लेकर पड़े दबाव के कारण भैरव प्रसाद गुप्त ने पत्रिका से मुक्त हो जाना ही बेहतर समझा। भैरव प्रसाद गुप्त के बाद कमलेश्वर द्वारा 'नई कहानियाँ' का संपादन संभालने से यह संदेह भी स्वाभाविक है कि इस स्थिति के पीछे इस त्रयी की राजनीतिक-भूमिका संभव हो सकती है। नई कहानी के आत्मपरक व्यक्तिवादी रुझानों के विरुद्ध भैरव प्रसाद गुप्त के उत्साहपूर्ण संघर्ष से ये लेखक प्रसन्न तो नहीं ही थे।

एक संपादक के रूप में ऐसे अप्रिय और दुःखद दबावों से मुक्त होकर अपनी पत्रिका निकालने के विचार से भैरव प्रसाद गुप्त ने जनवरी-मार्च '72 के अंक से त्रैमासिक 'समारंभ' की शुरूआत की। पत्रिका का आर्थिक पक्ष बहुत कमज़ोर और अनियोजित होने से फिर सन् '73 में उसका दूसरा और अंतिम अंक 'प्रारंभ' के नाम से प्रकाशित हुआ। इन दो अंकों के बाद न सिर्फ़ यह पत्रिका ही बंद हो गई, एक संपादक के रूप में भैरव प्रसाद गुप्त का कार्य भी समाप्त हो जाता है। 'समारंभ' और 'प्रारंभ' के ये दो अंक, अपने सीमित साधनों के बावजूद उनके संपादकीय संघर्ष और उससे जुड़े लक्ष्यों के साक्षी माने जा सकते हैं। यह पत्रिका कहानी की पत्रिका से भिन्न एक वैचारिक पत्रिका के रूप में नियोजित और परिकल्पित थी। इसमें वैचारिक चिंतन, साहित्य, कला,

फ़िल्म के साथ ही एक साहित्यिक संस्थान के रूप में साहित्य अकादेमी के कार्यकलापों की आलोचना भी थी। 'विचार' के अंतर्गत दो लेख प्रकाशित थे—अ. रहमान का 'आधुनिकवाद : एक दृष्टिकोण' और स्वयं भैरव प्रसाद गुप्त का 'जार्ज लूकाच : संदर्भ मार्क्सवाद', जिसमें उन्होंने लूकाच के राजनीतिक और वैचारिक विचलन पर पर्याप्त आवेशपूर्ण ढंग से टिप्पणी की थी। कहानी की आलोचना के रूप में उन्होंने चन्द्रभूषण तिवारी का लेख 'समकालीन हिंदी कहानी : भिन्नता के सही धरातल' के साथ दूधनाथ सिंह की 'दुर्गंध' और सतीश जमाली की 'आवाज़' शीर्षक कहानियाँ भी छापी थीं। नाटक के संदर्भ में वीरभारत तलवार द्वारा लिया गया उत्पल दत्त का एक साक्षात्कार भी था। 'फ़िल्म उद्योग की समस्याएँ' शीर्षक से एक लेख नर्गिस दत्त का था। अंक की सबसे महत्त्वपूर्ण और विवादास्पद रचना बच्चन की आत्मकथा पर विश्वनाथ त्रिपाठी की समीक्षा थी—'आत्मकथा का बच्चन : पातक-पुराण का हीरो'। इस उल्लिखित सामग्री के अतिरिक्त भी लेखों और कविता के रूप में कुछ और सामग्री भी अंक में थी। पत्रिका की वैचारिक दिशा का अनुमान इससे सरलतापूर्वक लगाया जा सकता है।

इसी पत्रिका का जो दूसरा अंक 'प्रारंभ' नाम से निकला उसका स्वरूप भी लगभग ऐसा ही था। इसमें संपादकीय के रूप में भैरव प्रसाद गुप्त ने 'प्रेस की इज़ारेदरी बनाम प्रेस की स्वतंत्रता' शीर्षक से पूँजीवादी प्रेस की सीमाओं की चर्चा करते हुए उसकी तीखी आलोचना की। इंदिरा गाँधी की सरकार ने भारतीय प्रेस को व्यावसायिक रूप देकर उसे जो कुछ पूँजीवादी घरानों का बंधक बना दिया था, इस टिप्पणी में उसी की आलोचना करते हुए भैरव प्रसाद गुप्त ने सवाल उठाया था..." क्या इंदिरा गाँधी भारतीय प्रेस को व्यवसाय बनने से रोक सकती हैं? क्या लेखक और पत्रकार जीने और लिखने की, लिखकर जीने की नहीं, लड़ाई लड़ सकते हैं?..." (प्रारंभ '73 पृ. 7) इस अंक की सामग्री *समारंभ* के स्तर की नहीं थी लेकिन 'विचार' के अंतर्गत रमेश कुंतल मेघ का निबंध 'स्वतंत्रता : एक विश्लेषण' अंक की एक उल्लेखनीय उपलब्धि माना जा सकता है। कहानियों में बाङ्ला लेखक सौरी घटक और चीनी लेखक वांग शी-यन की कहानियाँ मुख्य थीं। मूल्यांकन के लिए मोहन राकेश के प्रयोगधर्मी नाटक *आधे-अधूरे* को लिया गया था और उस पर बालकृष्ण मालवीय की बेहद तीखी समीक्षा 'मानसिक और शारीरिक बिल जब्री' शीर्षक से छपी थी। साहित्य पर सव्यसाची और शिवकुमार मिश्र की टिप्पणियाँ भी थीं। कुल मिलाकर अंक की सामग्री उस संपादकीय तेजस्विता की दृष्टि से असफल दिखाई देती है, जिसकी अपेक्षा भैरव प्रसाद गुप्त के संपादन में निकली पत्रिका से सहज ही की जा

सकती थी। इनमें भी 'समारंभ' बम्बई से प्रकाशित थी और 'प्रारंभ' भैरव प्रसाद गुप्त की ही अपनी धारा प्रेस, इलाहाबाद से, जिसमें उनके पुत्र जय प्रकाश का नाम प्रकाशक के रूप में छपा था। स्पष्ट है कि 'समारंभ' वाली व्यवस्था गड़बड़ा जाने से ही यह विकल्प अपनाया गया था। लेकिन बिना किसी मज़बूत आर्थिक आधार के पत्रिका का निकाला जाना असंभव है। यही कारण है कि 'प्रारंभ' का पहला अंक ही उसका अंतिम अंक भी था।

भाग्य देवता : एक मूल्यांकन

सामाजिक रूपांतरण में मध्यवर्गीय सक्रियता

भैरव प्रसाद गुप्त का उपन्यास *भाग्य देवता* दो जीवन-दृष्टियों की टकराहट का उपन्यास है। उपन्यास के दो प्रमुख पात्रों, बाबूजी और छगनजी के माध्यम से उन्होंने दो भिन्न और विरोधी दृष्टियों के इस टकराव को अंकित किया है। उपन्यास की शुरूआत बाबूजी के परिवार से होती है। अपनी चढ़ती जवानी के दिनों से ही उन्हें डर्बी की लाटरी और 'इलस्ट्रेटेड वीकली' की इनामी पहेली का चस्का लगा हुआ है, जिसने उनके पूरे जीवन को अपने ढंग से नियंत्रित किया है। उनके इस व्यसन ने उन्हें घोर भाग्यवादी, अकर्मण्य और कल्पना-विलासी बना दिया है। अपनी विधवा निःसंतान मामी द्वारा गोद लिये जाने के फलस्वरूप वह उनकी सम्पत्ति के वारिस बन जाते हैं, लेकिन उनके तौर-तरीक़ों से क्षुब्ध होकर, वह उन्हें अधिकारच्युत करके उनकी वास्तविक स्थिति में पहुँचा देती है। कभी-कभी भाग्य उनका साथ देता भी है और जब ऐसा होता है, उनका यह विश्वास और बढ़ जाता है कि अपना 'राजा' नाम सार्थक करते हुए, वह राज्य करने के लिए ही बने हैं। अर्थ-संकट के दौर उनके जीवन में क्षणिक ही हो सकते हैं और एक न एक दिन भाग्य अवश्य उन्हें वह सब कुछ देगा!, जो अधिकतम रूप में किसी व्यक्ति को मिल सकता है। कभी-कभी तो जैसे अपने भाग्य की परीक्षा लेने के लिए ही वह स्वयं मुसीबतों को आमंत्रित करते हैं और छोटे-मोटे धक्कों के बाद उस तूफ़ान में संभली हुई नाव-जैसी स्थिति कहीं-न-कहीं उनके आत्मविश्वास को बढ़ाती है। उनके इसी स्वभाव पर टिप्पणी करती हुई उनकी माँ उनकी पत्नी से कहती हैं, "ऐसा पागल आदमी तो दुनिया में शायद ही कोई हो, जो अपने सौभाग्य की परीक्षा लेने के लिए अपनी नाव तूफ़ान में छोड़ दे..." (पृ. 37)

जीवन के अनेक उतार-चढ़ावों के बीच, आतंक और अनुशासन के साथ उन्होंने अपने परिवार को पाला-पोसा और तैयार किया है। मामी द्वारा सम्पत्ति के अधिकार से वंचित कर दिये जाने के बाद अपने श्वसुर के मित्र एक रिटायर्ड फ़ौजी अधिकारी की सहायता से वह ठेकेदारी करने लगते हैं। लेकिन उनके बेतहाशा पीने की आदत और अकर्मण्यता से खीझकर अन्ततः वह भी अलग हो जाता है। फिर जब वह सचमुच बुरे दौर से गुज़र रहे होते हैं, भरी गई एक पहेली का पुरस्कार उन्हें मिल जाता है और स्थिति फिर उनके अनुकूल होने लगती है। उनका यह विश्वास कभी उनका साथ नहीं छोड़ता कि स्थिति दुस्सह हो जाने के पूर्व ही कुछ न कुछ हो जायेगा और प्रायः ही चमत्कार की तरह ऐसा कुछ हो भी जाता है। एक बार जब वह एक ऐसे ही भयावह दौर से गुज़र रहे होते हैं, उन्हें अचानक सूचना मिलती है कि मामी का स्वर्गवास हो गया है और सब कुछ होने के बावजूद अपनी सारी सम्पत्ति वह उन्हीं के नाम कर गई हैं। इस प्रकार एक पर एक पर्त चढ़ाकर लेखक ने उनके चरित्र को विश्वास की चाशनी में पाग दिया है कि वह भाग्य के बहुत प्रबल हैं और ऐसे भाग्य का स्वामी जो चाहे वह कर सकता है। मामी की सम्पत्ति से वह एक प्रेस और प्रकाशन संस्थान खोलते हैं और अपनी मृत मामी के नाम पर ही 'छाया' नामक एक पत्रिका निकालते हैं, जिसके संपादक के रूप में छगनजी की नियुक्ति होती है।

कथा में छगनजी के प्रवेश तक बाबूजी का परिवार अनेक उतार-चढ़ाव के बाद काफ़ी-कुछ स्थिर हो चुका है। उनके बुरे समय में उनके छोटे भाई नन्नू ने उन्हें अपने साथ रखा था, उनके काम में हर तरह की सहायता दी थी, उसी के प्रयास से उनका बड़ा बेटा प्रकाश दून स्कूल की शिक्षा पा सका था। लेकिन पैसे को अत्यन्त लापरवाही से ख़र्चने वाले बाबूजी अपने अनुभव से यह अवश्य समझ लेते हैं कि इस संसार में अंततः पैसा ही सब कुछ है और उसी के बल पर आदमी जो चाहे वह कर सकता है। उनके चरित्र में, उनकी इस समझ से, एक नया परिवर्तन घटित होता है। धीरे-धीरे वह एक बेहद आत्मकेन्द्रित हिसाबी क़िस्म के आदमी में बदल जाते हैं, जो दूसरों का शोषण करके और हक मारकर निरंतर विकास और भौतिक समृद्धि की ऊपरी मंज़िल तक चढ़ते जाते हैं। दून की पढ़ाई समाप्त करने के बाद वह प्रकाश को आगे की पढ़ाई के लिए अनुमति नहीं देते। इतना बड़ा कारोबार कौन संभालेगा? नन्नू के पुराने खपरैल वाले मकान में जैसे-तैसे एक नया कमरा बन पाता है, जबकि उनके यहाँ सम्पत्ति और समृद्धि का कोई हिसाब ही नहीं है। प्रकाश को प्रेस के काम में लगाने के बाद तो वह जैसे सारा कुछ बदल देने पर उतर आते हैं। महल-जैसी कोठी बनती है,

नया प्रेस आता है, उसके लिए नई इमारत बनती है। नौकर-चाकर, बेयरे-खानसामे, माली-दरबान आदि सब एक बड़े और नये बने साम्राज्य का आतंक पैदा करते हैं। रोटी और चौका-बर्तन से लेकर पति की सेवा में रहनेवाली माँजी अब अचानक मामी छायादेवी की भांति ही 'रानी माँ' बन जाती हैं और बढ़ती हुई सम्पन्नता की एक ख़ास चमक उनके रूप-रंग और रख-रखाव पर साफ़ दिखाई देने लगती है।

परिवार में बाबूजी के आतंक और अनुशासन के पीछे माँजी की एक विशिष्ट भूमिका है। वह भारतीय समाज की एक ऐसी स्त्री है, जो सिर्फ़ पति और परिवार के लिए खटती है—अपनी अलिखित दासता को स्वामिनी के गौरव-बोध से झेलती और ठेलती हुई। अपने पूरे जीवन में वह अपने पति के लिए शराब की व्यवस्था समारोहपूर्वक करती है—प्रेस से लौटने के बाद बरामदे में आरामकुर्सी डलवाकर क़िस्म-क़िस्म के चख़नों के साथ अब उनकी नियति यह है कि बड़े हो रहे जवान बेटे को ऊब और झुँझलाहट भरी प्रतीक्षा में अपने को गलाती रहें और नौकर या दरवान से सुने कि कोई लड़की उनके बेहोशप्राय बेटे को गाड़ी से फाटक तक छोड़ गई है। वह यह भी पूछे बिना नहीं रहतीं कि हर रोज़ ऐसे ही उसे छोड़ जानेवाली लड़की एक ही है या अलग-अलग। वह सिर्फ़ इस संतोष में जीती हैं कि उनके पति ने आज तक किसी दूसरी स्त्री की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा। रुपये को बहुत महत्त्व देनेवाले दिनों में जब पति उन्हें रुपये देते हैं, नौकर चाकर रखने की छूट भी देते हैं, तो भी वैसा कुछ न करके रुपये को जोड़ती और बचाती रहती है, क्योंकि जानती है कि इससे पति को खुशी होगी। दून स्कूल की हवा खाकर लौटा बेटा प्रकाश जब उन्हें व्यक्ति-स्वातंत्र्य का पहला पाठ पढ़ाने की कोशिश करता है, यह बताकर कि घर में बाबूजी का रवैया पूरी तरह एक तानाशाह का रवैया है और उनकी हैसियत एक दासी से बेहतर नहीं है, तो उसका प्रतिवाद करती हुई वह कहती है, "इस घर में बाबूजी की हुकूमत है यह ठीक है, लेकिन इसका मतलब तुम यह न समझो कि इस घर में मेरा कोई महत्त्व ही नहीं है। बाबूजी हुकूमत करते हैं, लेकिन घर को मैं चलाती हूँ। एक दिन को भी मैं कहीं चली जाऊँ तो सब ठप्प हो जाएगा।' (पृ. 100) गहरे आत्मगौरव की अनुभूति के साथ वह कहती हैं कि वह इस घर में उनकी पत्नी और उनके बच्चों की माँ हैं—अर्थात् दासी नहीं हैं, जैसा कि वह उन्हें समझाने की कोशिश करता है। बाबूजी की परिवर्तित मानसिकता के विस्फोटक दौर में, जब घर के रहन-सहन और आब-ओ-हवा में क्रांति-जैसी आ जाती है, बाबूजी उन्हें अपने पास बिठाकर किसी बड़े घर में प्रकाश के विवाह की इच्छा जताते हुए घर में अपेक्षित परिवर्तन की योजना प्रस्तुत

करते हैं तो वह बहुत उदासीन भाव से यह सुनती हैं। उनकी दिक़्क़त यह है कि इस अनायास और अनापेक्षित अंतरंगता के लिए वह मानसिक रूप से अपने को तैयार नहीं कर पाई हैं। वह उन्हें समझाते हैं कि अब वह 'रानी माँ' बनकर रहेंगी, माँजी नहीं, उसी तरह जैसे उनकी मामी छायादेवी रहती थीं। नौकरानी उन्हें मालिश करके स्नान करायेगी। वही उनके बाल बनाकर कपड़े पहनाएगी और फिर वह इस सारे प्रसंग को नाऊ और नाऊन द्वारा विवाह में दुल्हिन के महावर लगाने और मंडप में ले जाने की चर्चा द्वारा उनकी स्मृतियों को कोमलता से छूते-सहलाते हैं। बावर्ची और ख़ानसामें रखे जाएँगे—यहाँ तक कि घर में नई रखी गई नौकरानी का नाम 'दक्खी' पसंद न आने के कारण बदलकर वह कुछ और नाम रखने पर ज़ोर देते हैं। उनके हाथ की उँगलियों को, शायद जीवन में पहली बार छूकर, बाबूजी कल से शुरू होनेवाले परिवर्तन पर आकर अपनी बात समाप्त भी न कर पाए होते हैं कि ऊबकर उठने को होती हैं, क्योंकि उन्हें खाने की तैयारी करनी है। जब वह बाबूजी के कमरे से निकल रही होती हैं, तब भी वह कह रहे होते हैं कि अब उसका काम केवल देखभाल करना ही होगा, क्योंकि नौकर-चाकर सारा काम मशीनों की तरह करेंगे। लेकिन इसके काफ़ी देर बाद भी जब सब लोग बाबूजी और बच्चे खा-पीकर सो चुके होते हैं, वह बिना खाए प्रकाश की प्रतीक्षा में बैठी होती है कि वह आ जाए तो उसे और नौकरों को खाना देकर, और थोड़ा-बहुत स्वयं भी खाकर, सोने जाएँ। लेकिन उसके निर्भय और मुक्त आचरण को देखकर माँजी को डर-सा लगने लगा है। जब बाबूजी सब कुछ नौकर-नौकरानियों के सहारे छोड़ने की बात करते हैं तो क्या प्रकाश को भी उनके सहारे छोड़ा जा सकता है? "मैं बाबूजी की सभी सेवाओं का भार नौकर- नौकरानियों पर नहीं छोड़ सकती? फिर मैं क्या करूँगी? हे भगवान अब क्या होनेवाला है, अब इस घर का क्या होनेवाला है?" (पृ. 359) उनका यह भय अकारण नहीं है। अचानक हृदयगति रुक जाने से मुँह में आँचल डालकर वह बाबूजी के पलंग पर बैठ जाती है और थोड़ी देर बाद स्थिति का ज्ञान होने पर वह उनकी छाती पर सिर पटककर धाड़ मारकर रो पड़ती है। प्रकाश उन्हें इसी हालत में छोड़कर डॉक्टर को बाहर तक छोड़ने आता है, उससे यह कहने के लिए कि बाबूजी की मृत्यु का प्रमाण-पत्र तैयार रखे, वह उसे मँगवा लेगा।

भाग्य देवता में छगन ज़ी की भूमिका प्रतिपक्ष की है। उनमें लेखक की समानताओं को देखकर लगता है कि छगनजी के रूप में लेखक ने स्वयं अपने को ही चित्रित किया है। यह उपन्यास हिन्दी में संपादन और प्रकाशन जगत

के अपने निजी अनुभवों को आधार बनाकर लिखा गया है। इस संदर्भ में यह एक स्वाभाविक सवाल है कि जीवन के निजी घटना-प्रसंगों और व्यक्तियों को कोई रचना में किस सीमा तक और किस रूप में इस्तेमाल करने की छूट ले सकता है? लेकिन इस पर थोड़ा रुककर विचार किया जाएगा। छगन जी और लेखक के व्यक्तित्व की समानताओं को देखते हुए फ़िलहाल उपन्यास में उनकी भूमिका तक ही अपने को सीमित रखा जा सकता है। उपन्यास में इस प्रकार के संकेत उपलब्ध हैं कि सन् '30 के स्वाधीनता आंदोलन के उत्थान काल में छगन जी मिडिल के छात्र थे और अपनी किशोरावस्था में वह स्वाधीनता आंदोलन के प्रभाव-वृत्त में आ गए थे। यदि मिडिल में पढ़ते हुए उनकी उम्र तेरह वर्ष की मान ली जाए तो उनके जन्म का वर्ष वही बैठता है, सन् 1917, जो स्वयं भैरव प्रसाद गुप्त का जन्म वर्ष है। विरोधी परिस्थितियों के बीच संघर्ष करते हुए उनके चरित्र का विकास हुआ है और साहित्य एवं कला की दुनिया में वैचारिक दृढ़ता उनकी ख़ास पहचान है। उपन्यास में प्रयुक्त नामों में थोड़े हेर-फेर के साथ भैरव प्रसाद गुप्त अपने 'माया' काल मे अनुभवों को ही इस्तेमाल करते दिखाई देते हैं। 'माया' का नाम बदल कर वे 'छाया' कर देते हैं और उस व्यावसायिक संस्थान में भी छगनजी अपनी योग्यता और क्षमताओं के कारण ही न सिर्फ़ टिके रहते हैं, मालिकों के मन में उन्हें लेकर यह भाव भी गहरी जड़ें जमाए हुए है कि संस्थान की पत्रिकाओं की विक्री में उनकी विशेप भूमिका है और उन्हें निकाल देने पर संकट आ सकता है। इसीलिए वे लोग उनकी इस शर्त को मानते हैं कि उनके काम में किसी तरह का हस्तक्षेप किए विना अपने ढंग से, स्वतंत्रतापूर्वक उन्हें काम करने दिया जाएगा। इस शर्त से हटकर छम-छम को अपने हाथ में लेकर बावूजी और संस्थान के अन्य सहयोगी उनका हश्र देख चुके हैं। अंत में छगन जी द्वारा संस्थान छोड़ जाने की स्थिति में संस्थान पर जो गुज़रती है, उससे उपन्यास में छगनजी की भूमिका वहुत दूर तक स्पष्ट हो जाती है। संस्थान से हटकर उनके संपादन में 'कला' नामक जिस नई पत्रिका के ऐतिहासिक विशेपांक का उल्लेख उपन्यास में हुआ है वह वस्तुतः 'कहानी' ही है, सन् '55 में प्रकाशित जिसका बृहत् विशेपांक आज भी हिन्दी कहानी के विकास में उल्लेखनीय बना हुआ है। 'कला' के पाँच सौ पृष्ठों वाले विशेषांक की बात सुनकर निरेन बाबू जो स्वयं संस्थान का एक महत्त्वपूर्ण अंग हैं, छगन जी के संपादकीय लाघव पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं, "उन्हें (वावूजी) क्या मालूम कि किसी भी पत्र-पत्रिका की प्रतिष्ठा, लोकप्रियता तथा चरित्र का निर्माण संपादक करता है, मालिक नहीं" (पृ. 537)। इस विशेपांक की बिक्री छगन जी

पर स्वयं एक टिप्पणी है। उससे पत्रिका के दस हज़ार स्थायी ग्राहक बनते हैं और चालीस हज़ार का अंक छपने के बाद भी शहर में उसे हासिल कर पाना असंभव हो जाता है, क्योंकि वह बाहर के ग्राहकों और एजेंटों में ही खप जाता है।

इसके अतिरिक्त भी छगन जी और भैरव जी में अनेक समानताएँ हैं। छगनजी इलाहाबाद के ही हैं, जो मूलरूप से बलिया के निवासी हैं। 'प्रगतिशील लेखक संघ' और 'परिमल' के वैचारिक संघर्ष में तत्कालीन इलाहाबाद का साहित्यिक सांस्कृतिक परिदृश्य और वैचारिक मुठभेड़ अनेक प्रसंगों में प्रकट हुई है। एक संपादक की हैसियत से छगन जी पत्रिका के नैतिक प्रभाव के हामी हैं, क्योंकि उनके विचार से एक अच्छी पत्रिका पाठकों की रुचियों का संस्कार भी करती है और इस प्रकार उनकी दीक्षा में उसकी एक विशिष्ट भूमिका होती है। मालिकों के साथ उनके मतभेद का मूल मुद्दा भी यही है। छगनजी पत्रिका में छपने वाले सुधाकर मिश्र के सुधा और ताबीज के विज्ञापन बंद कर देते हैं, जबकि संस्थान को एक अच्छी और निश्चित आय होती है। पत्रिका में छपनेवाली कहानियों की विषय वस्तु और सामाजिक प्रभाव को लेकर वह विशेष रूप से सजग है। पतनशील और दैहिक संबंधों वाली पश्चिमी कहानियों के अनुवाद इसीलिए उन्हें पत्रिका में देना पसंद नहीं है—जबकि मालिक उन पर ख़ास ज़ोर देते हैं। वह मज़दूर यूनियन के समर्थक हैं, और उनके अधिकारों की लड़ाई में सदैव उनके साथ रहने के कारण ही एक 'कम्युनिस्ट' के रूप में जाने-पहचाने जाते हैं। मज़दूरों की गोष्ठी में ग़ैर-ज़रूरी होने पर भी वह, पूँजीवादी और समाजवादी व्यवस्थाओं का बखान वह जिस भास्वर रूप में करते हैं वह सब आज परिवर्तित संदर्भ में बहुत विडम्बनापूर्ण लगने पर भी उनकी अपनी बनावट को समझने के लिए उपयोगी हो सकता है।

भैरव प्रसाद गुप्त की भांति ही छगनजी भी अपनी पहचान मूलतः और मुख्यतः एक लेखक के रूप में चाहते हैं—भारतीय ग्राम जीवन के लेखक के रूप में। उपन्यास में जो काल-खण्ड अंकित हैं वह देश की स्वाधीनता के लगभग बाद का है, जिसमें कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं और संस्कृति-कर्मियों पर, निरंकुश दमन की सरकारी नीति के तहत, गहरा संकट आया हुआ था। एक ओर यदि यह ज़बर्दस्त आशावाद और सक्रियता का काल था, तो दूसरी ओर घोर संकट और हताशा का काल भी था। तेलंगाना की किसान क्रांति के कारण लगता था कि समूचे देश में क्रांति अब जल्दी ही आनेवाली है। इसी संदर्भ में पार्टी की दुःसाहसिकता और रचनात्मक विवेक के बीच एक गहरी खाई बनी थी। पार्टी का सारा संगठन एक अभेदय रहस्यवाद में सिमटा हुआ था। हिंदी क्षेत्र में वामपंथी पार्टी कला

एवं संस्कृति के प्रति गहरी संवेदनहीनता का परिचय दे रही थी। अभी पिछले दिनों, बम्बई के भयंकर बम काण्ड के बाद, शिवसेना द्वारा ए. के. हंगल और शबाना आज़मी की फ़िल्मों के बहिष्कार से क्षुब्ध होकर ए. के. हंगल ने वक्तव्य दिया था कि वे चालीस वर्षों से इप्टा और कम्युनिस्ट विचारधारा से जुड़े रहे हैं, लेकिन उनके इस बहिष्कार पर किसी भी कम्युनिस्ट पार्टी ने कोई प्रतिक्रिया नहीं की। छगनजी भी तत्कालीन पार्टी की आत्मघाती दुःसाहसिक नीतियों की तीखी आलोचना करते हैं। पार्टी और जन-मोर्चा के पारस्परिक सम्बन्धों के संदर्भ में उनका सोचना है—'क्या कोई जनमोर्चा केवल क्रांतिकारियों का मोर्चा होता है? और क्या क्रांतिकारियों की कोई ऐसी पार्टी भी होती है जिसे जनता के लिए, जनता के बीच काम करना नहीं होता? दुस्साहसिकता जनाधार को संकुचित कर देती है, संकीर्णता जनाधार को तोड़ देती है, संदेहात्मकता विश्वास को, साथीपन की भावना को नष्ट कर देती है, मुँहबंदी मानसिक विकास की चिंतन-प्रक्रिया को कुंठित कर देती है और जकड़बंदी तो सारे विकास का गला घोंट देती है' (पृ. 425)। रणदिवे-काल की इस आलोचना में आज भी वामपंथी पार्टियों के जनाधार और जनमोर्चा पर उनकी भूमिका के सवाल को लेकर गहरी व्यथा बहुत स्पष्ट है। तत्कालीन लेखक संघ के महासचिव (डॉ. रामविलास शर्मा) की भूमिका और व्यवहार पर की गई टिप्पणियाँ वैचारिक जकड़बंदी के दुष्परिणामों को तो खोलती ही हैं—शब्द और कर्म के द्वैत को भी सामने लाती है। संघ के महासचिव मशाल जुलूस में स्वयं न जाकर आगरा के इप्टा के किसी रंगकर्मी को यह काम सौंप देते हैं। तत्कालीन रूस और चीन के शांति-सम्मेलनों की तुलना में भारतीय वामपंथी पार्टी और उसके सांस्कृतिक संगठनों के सम्मेलनों की वास्तविकता दुःखद और विडम्बनापूर्ण है।

पार्टी जनता की है या होनी चाहिए। लेकिन जनता का उससे कोई सम्पर्क नहीं है। अनेक सम्मेलनों में कहीं भी व्यापक भागीदार नहीं है। इप्टा का संभावनाशील युवा रंगकर्मी सुहास पुलिस की गोली से मारा जाता है। उसकी अर्थी के समय पुलिस द्वारा व्यवधान डाले जाने पर छगन जी को कोई सूचना नहीं मिलती। वह जान ही नहीं पाते कि क्या हुआ है और क्या किया जाना चाहिए। सुहास के घर से पुलिस का पहरा न उठने के कारण, अर्थी का कार्यक्रम भंग होने की स्थिति में, सुहास के वृद्ध पिता और बहन रूसी को पता ही नहीं है कि यह सूचना देने के लिए पार्टी के लोगों में किसे, कैसे और कहाँ सम्पर्क किया जाना चाहिये। पार्टी-दफ्तर में सुहास के पिता को लड़के मिलते हैं, वे उन्हें निसार के पास पहुँचा देते हैं और बिजली क्लर्क निसार उन्हें कुछ बताए बिना किसी

तरह भोलेवाले कॉमरेडों से, जो उन्हें अर्थी में शामिल होने के आदेश के साथ दिये गये थे, झोले वापस करके घर जाने के अज्ञात हुक्मनामा सुना देता है। इस सारी प्रक्रिया पर क्षुब्ध होकर छगनजी सोचते हैं—क्रांतिकारी क्या ऐसे ही काम करते हैं? जब उन्हें पार्टी के उपर से प्रतिबंध हटने और रणदिवे को पार्टी के महासचिव पद से हटाये जाने की सूचना मदन से मिलती है तो वह अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहते हैं : "ग़लत तरह का अनुशासन भी कैसा जानलेवा होता है। वास्तविक स्थितियों को ठीक समझे बिना कोई आंदोलन छेड़ देने का कैसा भयंकर परिणाम होता है।" (पृ. 494)

आज जब इतिहास ने बहुत से जाले साफ़ कर दिए हैं, समय की एक निश्चित दूरी से, रणदिवे-काल की यह आलोचना काफ़ी विश्वसनीय लग सकती है। भैरव प्रसाद गुप्त जिस खुलेपन को पक्ष और वैचारिक जकड़बंदी के विरोध में इतने उत्साहपूर्वक बोल रहे हैं कभी वह स्वयं भी उस वैचारिक जकड़बंदी के शिकार रहे हैं। किसी लंबी और सार्थक बहस का धैर्य दिखाए बिना उन्होंने लूकाच, परसाई और निर्मल वर्मा के विरुद्ध एकांगी फ़ैसले और फ़तवे दिए हैं। छगन जी द्वारा की गई इस आलोचना में एक मध्यवर्गीय व्यक्ति की आलोचना-प्रवृत्ति स्पष्ट है, जो अपने को बचाकर, ऊँचाई पर रखकर, पार्टी, व्यक्तियों और नीतियों की आलोचना करता है। छगनजी कहीं भी अपनी ग़लतियों से सीखकर, आत्मालोचन की प्रक्रिया से गुज़रकर, अपने को बदलने की कोशिश नहीं करते। समय की धुंध और अंधेरे के पार भी वह एक सही आदमी हैं, जबकि ग़लतियों के लिए और सब हैं। दिल का दौरा पड़ने से हुई बाबूजी की मृत्यु उनका यह विश्वास तोड़ देती है कि वह अपने 'भाग्य के देवता' है। उनके भाग्य, समृद्धि और सम्पन्नता के पीछे वस्तुतः छगनजी का ही दिमाग़ है। जिन मज़दूरों के श्रम पर पूँजीवाद फलता-फूलता है उन्हीं मज़दूरों को वह उनके वाजिब हक़ और सुविधाएँ भी नहीं देता। इसी अर्थ में उपन्यास के आरम्भ में ब्रेश्ट की पंक्तियाँ, जो आम आदमी की ओर से एक जनरल को संबोधित हैं, सारी शक्ति एवं समृद्धि के मूल स्रोत के रूप में जनता और उसकी शक्ति का बखान करती हैं। भैरव प्रसाद गुप्त *भाग्य देवता* में भाग्य की इस वास्तविकता को जनता के श्रम से जोड़कर देखे जाने पर बल देते हैं।

उपन्यास में लेखक अपने आस-पास और सम्पर्क में आए वास्तविक व्यक्तियों को ही पात्रों के रूप में अंकित करता है। वास्तविक जीवन से पात्रों के चयन की यह प्रक्रिया सब लेखकों में एक-सी नहीं होती। कोई भी लेखक अपने पात्रों को वास्तविक जीवन में आए और देखे गए व्यक्तियों से एकाकार नहीं कर

देता। यह एक ऐसी रचनात्मक प्रक्रिया है, जो यदि सफलतापूर्वक सम्पन्न की जाए तो पुनर्सर्जित पात्र को स्वयं उस व्यक्ति द्वारा पहचाना जाना भी कठिन हो सकता है, जो उसकी प्रेरणा का मूल स्रोत है। उपन्यास के पात्रों में वास्तविक पात्रों की पहचान रचना की एक ऐसी दुर्बलता है, जो लेखक के श्रम एवं धैर्य पर स्वयं एक नकारात्मक टिप्पणी है। वैसे भी इलाहाबाद में लेखकों के बीच दावत-अदावत वाले सम्बन्धों की एक लंबी परम्परा रही है। एक ज़माने में उर्दू में बेदी, मंटो, देवेन्द्र सत्यार्थी और अश्क आदि ने रचनात्मक प्रतिस्पर्धा के दौर में, एक-दूसरे को पात्र बनाकर ऐसी बहुत-सी कहानियाँ लिखीं थीं। समरसेट मॉम ने थामस हार्डी के अंतिम दिनों को केन्द्र में रखकर अपना उपन्यास *केक्स एंड एल* लिखा था। यहाँ यह सवाल पूछा जा सकता है कि किसी भी लेखक को किसी वास्तविक व्यक्ति के अंकन में कितनी छूट मिल सकती है और चरित्रांकन में उसके अपने पूर्वाग्रह रचना को किस रूप में और किस सीमा तक प्रभावित कर सकते हैं? भैरव प्रसाद गुप्त का यह पूरा उपन्यास साहित्य, पत्रकारिता और राजनीति के क्षेत्र में उनकी अपनी लंबी जीवन यात्रा के अनुभवों का सीधा अनुवाद है। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, प्रतिपक्ष के रूप में, छगनजी के माध्यम से लेखक ने अपने को ही प्रस्तुत किया है। लेकिन ऐसा करते हुए उसने बहुत सजग और सचेत भाव से, अपने को बहुत बचा और संभालकर प्रस्तुत किया है। छाया प्रकाशन के संचालक बाबूजी और संस्थान के अन्य लोगों में माया के मित्र-परिवार की झलक बहुत साफ़ है। नामों में परिवर्तन के बावजूद व्यक्तियों और उस काल की पत्रिकाओं को पहचानना कठिन नहीं है। जब बहुत दूर बैठकर और अधिक व्यक्तिगत परिचय के बिना भी मैं यह कर सकता हूँ, तब परिचित और जानकार लोगों के लिए तो यह काम और सरल होना चाहिए।

उपन्यास में अंकित राय दम्पत्ति के रूप में लेखक ने स्व. बालकृष्ण राव और उनकी पत्नी उमाराव को अंकित किया है। राय साहब को कभी आई. सी. एस. अधिकारी लिखा गया है कभी आई. ए. एस. अधिकारी जो लेखक की असावधानी का प्रमाण है—ज़ाहिर है कि व्यक्ति इनमें से एक ही हो सकता है। राव साहब के जीवन के कुछ बहुत निजी प्रसंग उनकी पहचान में सहायक होते हैं। पहली विवाहिता पत्नी को छोड़कर, उन्होंने अपनी साली से विवाह किया था जिसके कारण उन्होंने अपने पद से त्यागपत्र दिया था। राव साहब मूलतः अंग्रेज़ी के आदमी थे, लेकिन फिर भी हिन्दी में साहित्यिक पत्रकारिता के लिए उन्होंने एक स्तर दिया। विभिन्न विश्वविद्यालयों में, गोरखपुर और आगरा में, कुलपति की हैसियत से हिन्दी शोध और पाठ्यक्रम के संदर्भ में उनकी एक

रचनात्मक भूमिका थी। इलाहाबाद में 'विवेचना' की गोष्ठी के माध्यम से हिन्दी में पुस्तक-समीक्षा को जो ऊँचाई उन्होंने दी, वह आज भी एक चुनौती है। लेकिन इस सारी बातों की उपेक्षा करके लेखक ने उपन्यास में राय-दम्पत्ति, जिसमें पत्नी का नाम उमा की जगह 'पार्वती' कर दिया गया है—को जिस रूप में अंकित किया है, उससे लेखक के अपने पूर्वाग्रह और कुंठाएँ स्पष्ट होती हैं। इस दम्पत्ति का आवास उपन्यास में ऐसे चित्रित किया गया है, जैसे नगर के युवा लोगों के लिए वह शराब और ऐय्याशी का अड्डा हो। उपन्यास में एक पात्र के मुँह से कहलवाया गया है—"इसने (राय ने) शहर के कितने धनी-मानी घरानों के युवकों और युवतियों को सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित करने के बहाने फाँस रखा है और इसके घर पर रोज रात की रंगरेलियाँ मनायी जाती हैं।" (पृ. 440) पोशाक और आचरण से पार्वती राय एक सुशिक्षित संस्कृतिकर्मी से अधिक उच्छृंखल सोसायटी गर्ल जैसी लगती है। यही पात्र उसके बारे में, इसी प्रसंग में थोड़ा आगे चलकर कहता है—'शी इज़ ए बिच' इलाहाबाद वैसे भी सम्बन्धों के स्थायित्व की दृष्टि से शायद अनुकूल जगह नहीं है—साहित्यिक दोस्तियों के दुश्मनी के बदलने का वहाँ एक लंबा इतिहास है। लेकिन किसी लेखक को जैसे अपनी कुंठाएँ और पूर्वाग्रह सामान्य पात्रों के साथ भुनाने की छूट नहीं होती, संस्कृति और कला के क्षेत्र के वास्तविक व्यक्तियों के साथ तो छूट और भी कठिन है। ऐसे प्रसंगों में किसी भी लेखक को यह याद रखना उसके अपने हित में हो सकता है कि दूसरे के बारे में कुछ कहकर उससे अधिक हम स्वयं अपने को उद्घाटित करते हैं। पूर्वाग्रह और कुंठाएँ कहीं भी अच्छे नहीं होते—रचना में तो वे पानी में तेल की तरह तैर कर उपर आ जाते हैं। वे पानी का स्वाद ही नहीं बिगाड़ते, उसे प्रदूषित भी करते हैं।

उपन्यास का रूपबंध इतिवृत्तात्मक और वर्णनबहुल है, जिसमें लेखक लंबे-चौड़े विवरणों को खपाने की कोशिश करता है। तराश और संयम की अपेक्षा उसमें फैलाव और बिखराव अधिक है। कहानी बाबूजी की प्रौढ़ावस्था में उन्हीं के परिवार से शुरू होती है। उनके बच्चे बड़े हो चुके हैं, घर की व्यवस्था माँजी अकेले सँभाले हुए हैं और एक संपादक के रूप में छगनजी सहयोगी हैं। उपन्यास में शुरू के सौ पृष्ठ कथा को कोई गति न देकर नीरस ब्यौरों से भरे हैं। प्रकाश दून स्कूल से पढ़कर लौट आया है, आगे की पढ़ाई को इच्छुक है, लेकिन बावूजी नहीं चाहते, क्योंकि वह उसे अब अपने व्यवसाय में डालना चाहते हैं। इसी आरंभिक हिस्से में पिता के बारे में अनेक घटनाएँ और प्रसंग उसे माँजी सुनाती हैं। इसी तरह विवाह पूर्व के अनेक प्रसंगों की चर्चा मामी माँजी से करती हैं। लेकिन

इन सारे प्रसंगों में न तो किसी चयन-दृष्टि का प्रभाव पड़ता है और न ही ये प्रसंग सहजरूप में कथा में प्रस्फुटित हुए हैं। इन घटनाओं को बयान करते हुए माँजी प्रकाश के समक्ष हर जगह उपस्थिति के तर्क को दोहरा कर उन्हें विश्वसनीय बनाने का प्रयत्न करती हैं। लेकिन छोटे-छोटे ब्यौरों को लेकर विस्तार का आग्रह और सब कहीं उनकी उपस्थिति का तर्क न तो सहज लगता है और न ही विश्वसनीय। ज्योतिषी और बाबूजी की बातचीत और अन्य अनेक प्रसंगों में बाबूजी और छगनजी के बीच हुई बातचीत में माँजी कभी नहीं होतीं, लेकिन वे ब्यौरे उनके मुँह से ज्यों के त्यों दोहरा दिये जाते हैं। उपन्यास पढ़कर एक प्रौढ़ और लंबी रचनात्मक यात्रा वाले लेखक की रचना का प्रभाव नहीं पड़ता है। गोष्ठियों में कई पृष्ठों के पूरे-पूरे आलेख पढ़वा दिए जाते हैं। इतने बड़े उपन्यास में छोटे-छोटे ब्यौरों की चित्रात्मक पद्धति से आँकने का प्रयास नहीं के बराबर है—लूकाच जिसे वर्णन के विरोध में रखकर उपन्यास की कलात्मक सार्थकता के लिए अनिवार्य ठहराते हैं। इस दृष्टि से माँजी और उनके परिवार के प्रति छगनजी की तरह लेखक के वैचारिक विरोध के बावजूद, उसी परिवार और उसमें माँजी की स्थिति के कुछ चित्र पर्याप्त संवेदनशीलता के साथ अंकित होने के कारण उपन्यास का मुख्य आकर्षण बन सके हैं।

भाग्य देवता भैरव प्रसाद गुप्त की रचनात्मक सक्रियता का प्रमाण है। लेकिन एक रचना के रूप में वह बहुत ढीला-ढाला और बिखरा हुआ उपन्यास है जिससे उनके कलात्मक विकास की अपेक्षाएँ पूरी नहीं होतीं। भैरव प्रसाद गुप्त के अपने रचना-कर्म के संदर्भ में वह *गंगा मैया* और *सत्ती मैया का चौरा* से आगे नहीं जाता और न ही पिछले दिनों हिन्दी में आये कुछ श्रेष्ठ और उल्लेखनीय उपन्यासों के साथ उसे अपनी रचनात्मक श्रेष्ठता के सहारे रखा जा सकता है। एक प्रौढ़ और अपने समय के महत्त्वपूर्ण लेखक की रचना को, वह भी ऐसी रचना जो देखने में पर्याप्त महत्त्वाकांक्षी लगती हो, अनेक छूटों के साथ सहानुभूतिपूर्वक देखे जाने का आग्रह प्रकारान्तर से उसकी दुर्बलता का ही साक्ष्य बन जाता है। थोड़ी दुर्भाग्यपूर्ण होने पर भी *भाग्य देवता* के साथ यहीं स्थिति है...।

चाय का प्याला : संवेदना और दृष्टि

भैरव प्रसाद गुप्त ने एक लंबे समय तक प्रेस और प्रकाशन संस्थानों में नौकरी की थी। उनकी नौकरी का बहुत बड़ा हिस्सा इन्हीं संस्थानों में बीता था। मज़दूरों के शोषण और संघर्ष को केंद्र में रखकर उन्होंने अनेक कहानियाँ लिखी हैं। इस संघर्ष में वे किसी बीच के रास्ते में विश्वास नहीं करते थे। जनवादी शक्तियों के संगठन और एकजुटता के मुद्दों पर वे एक प्रतिबद्ध रचना-दृष्टि वाले लेखक का उदाहरण हैं। *फंदा* की अधिकांश कहानियाँ सर्वहारा के शोषण और सामंती व्यवस्था के विरुद्ध उनकी प्रतिरोध-चेतना की कहानियाँ हैं। 'इंसान और मक्खियाँ' 'ऐसी आजादी रोज़-रोज़ हो' उनकी उस राजनीतिक चेतना के रूपायन को उदाहृत करती हैं, जो एक तरह से उनकी समूची रचना-दृष्टि का मूलाधार है।

उनकी 'हनुमान' और 'चाय का प्याला' जैसी कहानियाँ उनके कहानी लेखन के उस दौर की कहानियाँ हैं, जब एक लेखक के रूप में सामाजिक रूपान्तरण का उनका उत्साह कलात्मक संयम और कहानी की रूपगत अपेक्षाओं की ओर सजग होने लगा था। इनमें भी 'चाय का प्याला' उनकी प्रौढ़ और वयस्क रचना का उदाहरण है, जिसमें पूँजीवादी व्यवस्था में मज़दूरों के शोषण और संघर्ष को कलात्मक और विश्वसनीय ढंग से अंकित किया गया है।

'चाय का प्याला' पहली बार 'कहानी' के वार्षिकांक '55 में प्रकाशित हुई थी। कहानी एक पूँजीपति मालिक के प्रकाशन संस्थान पर केन्द्रित है। यहाँ अनेक लेखक, संपादक और कलाकार जैसे लोग नौकर हैं, जो उसकी चार पत्रिकाएँ निकालते हैं। इन लोगों के रात-दिन के हाड़-तोड़ परिश्रम से होनेवाला अधिकांश लाभ मालिक के हिस्से में जाता है। व्यवस्था के इस विशाल तंत्र में, मशीनों के बीच काम करते हुए, सिन्हा, मुकर्जी और चौधरी जैसे लोग स्वयं इस संस्थान की मशीनों में ढलते और बदलते गए हैं। मालिक मज़दूरों की छोटी-छोटी मामूली

सुविधाओं के प्रति भी उदासीन है। वह उन चीज़ों का भी विरोध करता है, जो क़ायदे से मज़दूरों और कर्मचारियों की कार्यक्षमता बढ़ाकर प्रकारांतर से उसी के लिए लाभकारी हो सकती हैं। लेकिन जैसा कि अपनी कहानी 'कुत्ते की टाँग' में ही भैरव प्रसाद गुप्त संकेत करते हैं, मालिक का रवैया अपने कर्मचारियों के प्रति घर के पालतू जानवरों से भी ख़राब होता है। लेखक इस ओर भी संकेत करता है कि मज़दूर सिर्फ मज़दूर होता है, हिंदू या मुसलमान नहीं होता है—भले ही मालिक इस साम्प्रदायिक आधार पर उन्हें तोड़ने और बाँटने की कोशिश करता हो। मसूद की पहल पर संस्थान में दोपहर की चाय बनने लगी है। मालिक इसे भी पसंद नहीं करता, क्योंकि उसे लगता है कि एक तो इससे समय की बर्बादी होगी दूसरे चाय पीने के लिए इकट्ठा होने पर उसके विरुद्ध षड्यन्त्र और विरोध का अवसर भी मिलेगा। यह सब सोचकर वह उदारता का ढोंग करता है और अपनी ओर से ही मज़दूरों के लिए एक प्याला चाय की व्यवस्था कर देता है। इसके बाद यही रवैया चालू है। पहले दो आदमी थे, अब बढ़ते-बढ़ते आठ हो गए हैं। चाय पीते हुए लोगों को मिल-बैठकर कहने-सुनने का मौक़ा मिलता है। उनकी बातों के केंद्र में अधिकतर मालिक ही होता है। उसके स्वार्थ, अर्थ-लिप्सा और अपने प्रति उसके रवैये को लेकर वे मुखर टिप्पणियाँ करते हैं। हर आदमी असंतोष की आग में जल रहा है। वे लोग मालिक को गालियाँ देते हैं, हर रोज़ नौकरी छोड़ देने के अपने निर्णय को दोहराते हैं—लेकिन कर कुछ नहीं पाते। कहानी की शुरूआत ही इस तरह होती है... 'आग के उपर राख का पहाड़ है...' (*कहानी*, जनवरी '55, पृ. 330) चाय के वक़्त हवा में उड़ती धुएँ की लकीरें देखकर लगता है मानों गीली लकड़ी का सिरा आग पकड़ने का धोखा दे रहा हो। कहानी में बुने गए ये और इसी प्रकार के अनेक संकेत भैरव प्रसाद गुप्त की ही कहानियों की उस प्रगल्भ-शैली से बहुत भिन्न प्रभाव डालते हैं, जिसमें एक ख़ास तरह का बड़बोलापन दिखाई देता है। मज़दूरों की छोटी-छोटी आकांक्षाओं के संकेत उनकी बातों में बहुत संवेदनशील ढंग से विन्यस्त हैं। उनकी इन आकांक्षाओं में ही उनकी बेबसी और लाचारी के चित्र भी शामिल हैं। इन्हीं लोगों में शर्मा भी शामिल है। वह सबसे नया है। उसकी हुलिया बयान करते हुए लेखक लिखता है—'पतला-दुबला, बिना किसी उतार-चढ़ाव का शरीर, भिंची हुई छाती, मियाना क़द, चिकना चेहरा, बाल सब काले, उम्र का पता नहीं चलता। देखने से चुस्त और ईमानदार लगता है। शहर के क़रीब-क़रीब सभी प्रेसों में काम कर चुका है। जब तक निकाला न गया, तब तक न छोड़ा। चार-चार बेटे-बेटियाँ हैं, महीनों दौड़ते रहने के बाद यहाँ रखा गया है, यह कहकर कि

जगह कोई ख़ाली नहीं, ख़याल करके ही रखा जा रहा है, ऊपर के कामों के लिए..." (वही, पृ. 333) मालिक अपने शातिरपन के कारण दो तरह के लोगों को ही नौकरी देता है। एक तो उन्हें, जो बिलकुल नए और अनाड़ी होने के नाते मालिक के दाँव-पेंच नहीं समझते और मिली हुई नौकरी के प्रति कुछ अधिक ही उत्साही होते हैं। दूसरे वह शर्मा जैसे लोगों को नौकर रखता है, ताकि उन पर एहसान लादकर उनकी बेबसी से फ़ायदा उठाया जा सके। जाहिर है कि शर्मा के घर-परिवार की जैसी स्थिति है, उसमें उसे मालिक से भी अधिक काम की चिंता सताती है। मालिक की नज़रों में चढ़े रहने के लिए अपने दूसरे साथियों के बारे में उसकी धारणा है कि वे लोग उसे गुमराह करने की कोशिश कर रहे हैं और मालिक के विरुद्ध उसे एक मोहरे की तरह इस्तेमाल करना चाहते हैं। उसकी यह समझ उसके द्वारा बरती गई सावधानी में भी साफ़ झलकती है। अपनी नौकरी का परीक्षण काल, जिसे छमाही इम्तहान कहा जाता है, वह बड़ी मुस्तैदी से बिताता है। उपर के काम के नाम पर, जिसका वास्ता देकर उसे नौकरी दी गई है, उसे कागज़ स्टोर, कम्पोज़िंग, दफ़्तरी खाना और प्रूफ का काम सौंप दिया गया है। पूरी मुस्तैदी और ईमानदारी से वह सारा काम करता है। वह एक मिनट को चैन से नहीं बैठता। सुबह दस के बदले साढ़े नौ बजे ही आ जाता है और शाम को पाँच के बदले कभी सात, कभी आठ और कभी-कभी तो नौ बज जाता है। इसी सबके कारण तीन महीने में ही वह मालिक की नाक का बाल और यहाँ का एक महत्त्वपूर्ण कर्मचारी बन चुका है। हर काम के लिए उसे ही बुलाया और याद किया जाता है।

लेकिन इन सबके बावजूद मालिक का रवैया उसके प्रति क्या है? उसके बीमार पड़ने पर उसका लड़का मालिक के पास पचास रुपये माँगने आता है। मालिक जैसे-तैसे दस रुपया देकर लड़के को लौटा देता है। शर्मा की बीमारी और अनुपस्थिति से भी कहीं कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता है। "बेचारे को इतनी चिंता थी, लेकिन यहाँ कोई फ़र्क़ न पड़ा था। सब काम नदी की धारा की तरह चल रहा था, जैसे कहीं कुछ न हुआ हो।' (वही पृ. 334) तीसरे दिन नौकर चाय पोंची लाकर मेज़ पर रख भी न पाया था कि ग़ुस्से, नफ़रत और घबराहट से काँपता हुआ मालिक आ पहुँचता है। फ़र्श पर उसका प्याला पड़ा था। अपना प्याला भी उन लोगों के प्यालों में मिला देने के लिए वह नौकर को डाँट लगाता है। वह अपना प्याला अलग न धोए जाने के लिए भी अपनी नाराज़गी व्यक्त करता है और फिर वह जैसे दहाड़ता हुआ शर्मा के प्याले के बारे में पूछता है। सहमा हुआ-सा नौकर जब इशारे से उसकी ओर अँगुली उठाता है तो वह

उसी तरह गुस्से में कहता है—'उठाकर फेंक इसे!' और फिर वह अपना गुस्सा शर्मा की ओर मोड़ देता है, 'जाने कम्बख़्त कब से टी. बी. के कीड़े पाले हुए था और यहाँ फैला रहा था। छिः छिः।' (वही) उसके चले जाने के बाद कहानी के शुरू की तरह फिर लेखक की टिप्पणी है "आग के ऊपर राख का पहाड़ है। सर्वाधिक सहनशीला धरती की भी कोख जब आग से जलने लगती है, तो पत्थरों का पहाड़ तोड़कर ज्वालामुखी फूट पड़ता है। राख की बिसात क्या?"... (वही) इस ज्वालामुखी के फूटने के कारणों को कहानी में बड़ी कुशलता से वुना गया है। मालिक द्वारा शर्मा का प्याला फेंक देने का आदेश पाकर नौकर शर्मा के उस प्याले को अपनी दो अँगुलियों के सहारे कुंडे से उठाकर आँगन के कोने में पड़े कूड़े के ढेर पर इस तरह फेंकता है, मानों मरे हुए चूहे को पूँछ पकड़कर फेंक रहा हो। और ज्वालामुखी के फटने से पहले कमरा जैसे धुएँ से भर गया हो, जैसे गीली लकड़ियों के सिरों में आग पकड़ ली हो। शर्मा की सारी विरोधी कारगुज़ारियों के वावजूद उसके मज़दूर साथी अपनी फैलती और ज़ोर पकड़ती आग को दबा नहीं पाते। उन्हें लगता है कि वह सिर्फ़ शर्मा का प्याला ही नहीं है, उनके एक अज़ीज़ की लाश है। इसके बाद वह प्याला उन्हें अकेला दिखाई नहीं देता..." और दूसरे ही क्षण उन्हें ऐसा लगा, जैसे वहाँ प्यालों का ढेर लगा हो, और उस ढेर में उनका अपना-अपना प्याला भी दिखाई दे रहा हो।" (वही, पृ. 338) इसके वाद सिन्हा का उद्‌वोधन 'हमें कुछ करना चाहिए।' जिसके साथ ही कहानी समाप्त होती है, मानों गीली लकड़ी के आग पकड़ने के उस संकेत की ही अभिव्यक्ति हो, जो स्थिति के परिवर्तन में उनके टलते रहे निर्णय को एक विस्फोट की तरह प्रस्तुत किया गया है। यह निर्णय न तो किसी स्तर पर आकस्मिता में से निकलकर आता है और न ही शाब्दिक मुखरता और प्रगल्भता का शिकार है। यह उनके सह पाने की सीमा को तोड़कर हुआ विस्फोट है, जो साझे हितों की एक अटूट शृंखला बनकर फैलता दिखाई देता है।

कहानी में पत्रिका का पूँजीपति स्वामी बहुत कम हमारे सामने आता है। लेकिन अनुपस्थित रहकर भी जैसे वह सब कहीं उपस्थित है। कहानी की पूरी बनावट में वह मौजूद है। इस प्रसंग में टिप्पणी करते हुए मार्कण्डेय लिखते हैं, "ऐसा नहीं है कि सच्चाइयों की तहों में झाँककर उसे देख पाने की क्षमता लेखक में नहीं है, क्योंकि 'चाय का प्याला' शीर्षक कहानी शायद उन गिनी-चुनी कहानियों में है जिसे दृष्टिगत यथार्थ के लिए उदाहरणस्वरूप हम पेश करना चाहेंगे। पत्रिका के मालिक की इस कहानी में सबसे कम उसी के बारे में कहा गया है। लेकिन उसके दफ़्तर में काम करनेवालों का जो सूक्ष्म और संक्षिप्त विवरण लेखक ने

प्रस्तुत किया है, वह स्वयं मालिक के चरित्र की एक कसौटी बन उठा है। इस कहानी में लेखक शिल्प की आधुनिकतम. बारीकियों का उपयोग करता है और चाय का वह प्याला उस दफ़्तर के शोषितों की लाश का प्रतीक बन जाता है...” (नई कहानियाँ, फ़रवरी ’62, पृ. 139)

भैरव प्रसाद गुप्त की ‘चाय का प्याला’ एक ऐसी कहानी है, जैसी कहानियों की संख्या उनके यहाँ अधिक नहीं है। वे जैसे इसमें अपने को ही तोड़ते और अतिक्रमित करते हैं। इसे उनके रचनात्मक साहस का भी एक अद्‌भुत उदाहरण माना जाना चाहिए।

उपसंहार

भैरव प्रसाद गुप्त प्रगतिवादी आंदोलन की अंतिम कड़ी थे—हिन्दी कथा-साहित्य में जिसकी जड़ें राहुल सांकृत्यायन और यशपाल ने रोपी थीं। नागार्जुन, रांगेय राघव और अमृतराय इसी आंदोलन से फूटी शाखाएँ थीं। जिस दौर में भैरव प्रसाद गुप्त की रचना-यात्रा शुरू हुई थी, वह व्यक्तिवादी रुझानों का दौर था। एक लेखक और संपादक के रूप में उनकी सबसे बड़ी लड़ाई इसी व्यक्तिवाद के विरुद्ध थी। साहित्य के पतनशील व्यक्तिवादी रुझानों के प्रति एक आक्रामक मुद्रा में ही वस्तुतः भैरव प्रसाद गुप्त की पहचान निहित है। इन प्रवृत्तियों के विरुद्ध उन्होंने सतत्, अप्रतिम और निर्णायक संघर्ष किया। एक लेखक के रूप में उन्होंने प्रेमचंद की भांति ही शहर और गाँव दोनों को ही अपनी रचना के केन्द्र में रखा और मानवीय शोषण के अनेक रूपों को उद्घाटित करके एक वर्गहीन समाज के निर्माण का रास्ता तैयार किया। प्रगतिवादी आंदोलन की उपज होने पर भी वे भीष्म साहनी से इस अर्थ में भिन्न थे कि कदाचित् भीष्म साहनी अकेले लेखक हैं जो आंदोलन के बीच रहकर भी आंदोलनात्मक लेखन की सीमाओं का अतिक्रमण करके उससे बहुत कुछ सीखने का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। भीष्म साहनी में आंदोलन के उत्साह का अतिरेक सबसे कम है। रचनात्मक धैर्य का ही उनमें अभाव नहीं है—आंदोलन का वैसा उग्र रूप उनमें नहीं मिलता, जो राहुल-यशपाल से लेकर भैरव प्रसाद गुप्त तक की पहचान बनी रही। आंदोलन की उग्रता और अतिवाद को पचा पाने की दृष्टि से भीष्म साहनी, रांगेय राघव के अधिक निकट पड़ते हैं। भैरव प्रसाद गुप्त के निधन से हिन्दी में प्रगतिवादी आंदोलन की वह अंतिम कड़ी टूट गई है, जिसके विकास के लिए वे *शोले* (1946) से लेकर उनके मरणोपरांत प्रकाशित *छोटी-सी शुरुआत* (1997) तक निरंतर सक्रिय रहे।

हिन्दी में नई-कहानी आंदोलन में भैरव प्रसाद गुप्त की भूमिका का उल्लेख

अनेक लोगों ने किया है—लेकिन फिर भी अभी उसका सम्यक् मूल्यांकन शेष है। नई-कहानी के लिए उन्होंने अपने संपादन में निकलने वाली पत्रिकाओं-*कहानी* और *नई कहानियाँ* द्वारा नई रचनात्मक ऊर्जा और प्रतिभाओं के लिए मंच तो दिया ही, इस से भी बड़ी भूमिका उनकी इस परिकल्पना में निहित है, जिसमें वे नई-कहानी को प्रेमचंद की परंपरा के संवर्द्धन और विकास के रूप में देखने और रेखांकित करने की तैयारी में लगे थे। नई कहानी आंदोलन के प्रति उनके उत्साह का सीधा-सादा कारण यह था कि तत्कालीन कविता में प्रयोगवाद और व्यक्तिवाद का जो हल्ला छाया हुआ था, एक ज़िम्मेदार लेखक और संपादक के रूप में उससे वे कहानी को बचाना चाहते थे। अपनी वैचारिक और रचनात्मक भूमिका पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने स्वयं लिखा है, "उन्हें तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं के प्रगतिशील कथाकारों को एक मंच पर संगठित करने की आवश्यकता थी और कहानी के माध्यम से यही किया गया। हम यह भी समझते थे कि कहानी सर्वाधिक लोकप्रिय विधा है और इसके माध्यम से हम प्रयोगवादी कविता को जो पाठकों से एकदम कटी हुई थी, अपदस्थ कर सकते थे।" (लेखन 3/4, पृ. 29) इस संदर्भ में उन्हें एक दोहरा संघर्ष करना था। एक ओर कविता के व्यक्तिवादी रुझानों से बचकर वे कहानी को प्रेमचंद की परंपरा से जोड़ना चाहते थे और दूसरी ओर कहानी में ही संबंधवादी-व्यक्तिवादी रुझान सिर उठा रहे थे उनसे भी वे कहानी को बचाना चाहते थे। कहानी में अमरकांत उनकी महत्त्वपूर्ण खोज हैं। मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव और कमलेश्वर की व्यक्तिवादी रुझानों वाली कहानियों के प्रति उनकी कोई अभिरुचि नहीं थी और कहानी के आंदोलन में दिन-ब-दिन उनकी बढ़ती हुई भूमिका उनके लिए गहरे क्लेश का कारण थी और उसके विरुद्ध उन्होंने हमेशा संघर्ष किया। हिन्दी साहित्य का यह परिदृश्य उनके संघर्षों की गहरी छाप लिए है। परिमलवादियों और अज्ञेय द्वारा साम्राज्यवादी संस्कृति के प्रहार के प्रयासों और नीतियों के विरुद्ध उनका संघर्ष भी उनके उसी रचनात्मक संघर्ष का हिस्सा है, जिसकी रचनात्मक उर्जा में तप कर उनका समूचा व्यक्तित्व बना था। सन् '42 में भारत छोड़ो आंदोलन में बलिया में अस्थायी जनता सरकार निर्माण और ब्रिटिश सरकार के क्रूर दमन की घटना उनका मुख्य उत्साह स्रोत बनी रही। यह जन संघर्ष हिन्दू-मुस्लिम जनता का एक साझा संघर्ष था जिसे अत्यंत संवेदनशील रूप में उन्होंने *सत्ती मैया का चौरा* में उद्घाटित किया। प्रेमचंद और यशपाल की भाँति इस अर्थ में भी वे इस आंदोलन की अंतिम कड़ी थे जो सांप्रदायिक सौहार्द और साझा संस्कृति एवं कार्यभारों के अंकन पर बल देते थे।

भैरव प्रसाद गुप्त एक वर्गहीन समाज के निर्माण के लिए प्रतिबद्ध लेखक थे। ऐसे लेखक हर कहीं प्रचारवादी समझे जाने की नियति लेकर पैदा होते हैं। स्वयं प्रेमचंद भी इससे बच नहीं सके। अपनी सफ़ाई में प्रेमचंद ने 'प्रचार' को 'विचार' का पर्याय बना कर अपने बचाव की लड़ाई लड़ी थी और तब से आगे के सभी ऐसे लेखक इसी तर्क से अपनी लड़ाई लड़ते रहे हैं। रचना के रूप में इन लेखकों को प्रायः ही सोवियत संघ के स्तालिन कालीन उपन्यासों से प्रेरणा मिलती रही है—कम से कम उनमें अंकित दो परस्पर विरोधी शक्तियों का संघर्ष और अंततः समाजवादी समाज के निर्माण या समृद्धि में रचना की समाप्ति। लूकाच ने कभी इसी यांत्रिक यथार्थवाद के विरोध में अपना तीव्र विरोध प्रकट किया था। उन्नीसवीं शताब्दी के महान रूसी उपन्यासों की तुलना में यांत्रिक और आरोपित आशावाद उन्हें बहुत बनावटी लगता था। इस संदर्भ में उनकी अनेक स्थापनाएँ बहुत विवादास्पद बनीं और अभी भी मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के निर्माण के प्रयासों के संदर्भ में उस पुरानी बहस की प्रासंगिकता किसी रूप में बनी हुई है जो लूकाच और ब्रेश्ट के बीच लंबे अरसे तक चली थी। लेकिन स्तालिन कालीन सोवियत उपन्यासों के सारे यांत्रिक आशावाद और कथ्यगत रेज़ीमेंटशन के बावजूद तत्कालीन परिस्थितियों में उनके सर्वश्रेष्ठ रूप के महत्त्व को नकार पाना कठिन है। इलिया ऐहरनबुर्ग, अलेक्सांद्र फ़ादयेव, कांसतेंतिन फ़ेदिन, निकोलाई आस्त्रोव्स्की, बोरिस पोलवोई, अलेक्सी तोल्सतोय और शोलोशोव आदि लेखकों ने यूरोप में फ़ासीवाद के उदय और उसके अभिशापों को स्वयं भोगा था और ये सब के सब किसी न किसी रूप में युद्ध के मोर्चे पर सक्रिय रहे थे। अनुभव की यह प्रामाणिकता एक ओर यदि गद्य में रिपोर्ताज जैसी विधा को जन्म देती है तो दूसरी ओर नाज़ी प्रतिरोध में जनता की सक्रिय हिस्सेदारी को संघर्ष की सारी उर्जा के साथ अंकित करती है। एक ओर यदि नाज़ी प्रतिरोध का संपूर्ण 'आर्डियल' था तो दूसरी ओर युद्ध की पृष्ठभूमि में सोवियत जनता की दैनिक दिनचर्या थी, युद्ध के अभिशापों की छाया में पड़ी और उसके सक्रिय प्रतिरोध के लिए सन्नद्ध और तैयार होती पीढ़ी—फ़ादयेव के तरुण गार्डों के कान्समोलों की पीढ़ी। सोवियत संघ का यह युद्ध-उपन्यास विनाश, प्रतिरोध और निर्माण की इसी प्रक्रिया का अत्यंत प्रामाणिक अंकन है—कम-से-कम उसका सर्वश्रेष्ठ रूप। हिन्दी में, शीतयुद्ध के दौर में, जब सोवियत-विरोधी प्रचार अपने चरम रूप में उपस्थित था और मानव-मूल्यों के हमारे पोषकों-समर्थकों को सोवियत-संघ में ढाए जाने वाले कथित अत्याचार ही सबसे अधिक दिखाई देते थे। लेकिन इस सोवियत-साहित्य का अभिभूतकारी प्रभाव भी हिन्दी में सहज ही देखा जा सकता

है। राहुल, यशपाल, मुक्तिबोध, अमृतराय और रांगेय राघव आदि ने अपने अनुवादों और सोवियत कथा-साहित्य पर लिखी गई अपनी टिप्पणियों में इस के महत्त्व को रेखांकित किया है। भैरव प्रसाद गुप्त वस्तुतः इसी शृंखला के अंतिम लेखक थे।

भारतीय स्वाधीनता की देहरी पर खड़े होकर सन् '46 में *शोले* से उन्होंने अपनी रचना-यात्रा शुरू की थी। कानपुर के मज़दूर आंदोलन की पृष्ठभूमि में लिखा गया उनका उपन्यास *मशाल* सन् '48 में प्रकाशित हुआ। हिन्दी प्रचार सभा से संबद्ध होकर अपने दक्षिण प्रवास से आकस्मिक रूप से लौटकर फिर वे वापस नहीं लौट सके। बलिया से बच निकलकर कानपुर की एक मिल में नौकरी और मज़दूर नेता अर्जुन लाल अरोड़ा से उनका आत्मीय परिचय ही *मशाल* की पृष्ठभूमि है। मज़दूरों के बीच अपने काम के अनुभव को भैरव प्रसाद गुप्त ने पर्याप्त प्रामाणिक रूप में उपन्यास में प्रस्तुत किया है। लेकिन सोवियत लेखकों और भैरव प्रसाद गुप्त के जीवनानुभव का अंतर *मशाल* की सीमाएँ स्पष्ट कर देता है।

भैरव प्रसाद गुप्त बुनियादी-वर्गों—किसान और मज़दूर को अपनी रचना के केन्द्र में रखते हैं। *मशाल, गंगा मैया* (1952), *सत्ती मैया का चौरा* (1959) और *धरती* (1962) इस दृष्टि से उनके महत्त्वपूर्ण उपन्यास हैं। दूसरी ओर वे क्रांति में मध्यवर्ग की भूमिका को भी उचित महत्त्व देते हैं—*अंतिम अध्याय* (1970), *नौजवान* (1974) और *भाग्य देवता* (1992) आदि में उनका केन्द्रीय चरित्र एक लेखक और संपादक है—स्वयं भैरव प्रसाद गुप्त का अपना प्रतिरूप। *धरती* के नायक मोहन का संघर्ष वस्तुतः उसके सर्जक का ही संघर्ष है। उसके संघर्ष पर उसकी पत्नी शशि की टिप्पणी महत्त्वपूर्ण है, "इनके साथी लेखकों में से कितनों ने ही सरकारी नौकरी कर ली है। कितने ही सरकारी ओर दूसरी पत्र-पत्रिकाओं के संपादक बन गए हैं। सब मोटी-मोटी तनख़्वाहें, भत्ते और इनाम झटक रहे हैं। कितनों ने ही अपनी कोठियाँ खड़ी कर ली हैं और कितनों ने ही कार ख़रीद ली है, कितनों की ही किताबें कोर्स में लग गई हैं। सब गुलछर्रे उड़ा रहे हैं आप बस यही फ़ख्र लिए जी रहे हैं कि हम लड़ रहे हैं। लड़िए साहब, खूब लड़िए, अब तो हम भी यह देखना चाहते हैं कि आप कब तक लड़ते हैं।" (*धरती*, पृ. 390) *धरती* अपने लिए चुने गए कार्य का क्षेत्र के नाम की लड़ाई जीवन को एक अर्थ देने की लड़ाई है। उसे संख्या नहीं, पैसा नहीं, एक अर्थ चाहिए। जीवन मौत से डरने का नहीं, उससे संघर्ष का नाम है। अपने नायक मोहन की भांति भैरव प्रसाद गुप्त भी इस आस्था पर जीवन-भर क़ायम रहे कि 'बीच का रास्ता' सिर्फ़ धोखा है—आदमी स्वयं अपने को और दूसरों को धोखा

देने के लिए इस रास्ते की ईज़ाद करता है। यह बीच का रास्ता सुविधाओं और अवसरवाद की डगर पर जाकर आदमी के संघर्ष की धार को कुंठित करता है। भैरव प्रसाद गुप्त जीवन-भर इस रास्ते के विरोध में सक्रिय लेखक के उदाहरण है। सत्ता, प्रतिष्ठान, स्वीकृति, पुरस्कार और सुविधाओं से कोई लेखक बड़ा नहीं बनता। यह अकारण नहीं है कि हिन्दी में संघर्षशील लेखकों की लंबी परंपरा में निराला उनके आदर्श पुरुष थे। अनेक प्रकार की कुंठित करने वाली हताशापूर्ण स्थितियों के बीच अपने संघर्ष की इस अदम्य ऊर्जा के सहारे ही वे सिर्फ़ एक लेखक बने रहे। एक लेखक के रूप में उनकी लड़ाई के अनेक रूप और स्तर थे। उनके उपन्यासों *अंतिम अध्याय* और *भाग्य देवता* में इस लड़ाई के विभिन्न रूपों को देखा जा सकता है। लड़ाई की निजता ने उनकी रचना के फलक को जब-तब संकुचित भी किया है—ख़ास तौर से तब जब इस लड़ाई में वे मध्यवर्गीय व्यक्तिवादी हथियारों का प्रयोग करने लगते हैं। लेकिन इससे एक लेखक की संघर्षात्मक ऊर्जा का महत्त्व कम नहीं होता। इस ऊर्जा के सही उपयोग में चूक के उदाहरण उनके यहाँ मिल सकते हैं, लेकिन इस ऊर्जा के महत्त्व को समझने में उनसे कहीं कोई चूक नहीं होती।

परिशिष्ट-1

उपन्यास

1. *शोले* (1946)
2. *मशाल* (1948)
3. *गंगा मैया* (1952)
4. *ज़ंजीरें और नया आदमी* (1954) इसके परवर्ती संस्करणों में यही उपन्यास सन् '70 में *बाँदी* और '82 में *आग और आँसू* नाम से प्रकाशित हुआ।
5. *सत्ती मैया का चौरा* (1959)
6. *धरती* (1962)
7. *आशा* (1963)
8. *कालिन्दी* (1963)
9. *रम्भा* (1964)
10. *अंतिम अध्याय* *(1970)*
11. *नौजवान* (1972)
12. *एक जीनियस की प्रेमकथा* (1980) यही उपन्यास पॉकेट बुक संस्करण में सन् '72 में *उसका मुज़रिम* नाम से प्रकाशित हुआ था।
13. *भाग्य देवता* (1992)
14. *अक्षरों के आगे* (मास्टर जी) (1993)
15. *छोटी-सी शुरूआत* (मरणोपरान्त सन् 1997 में प्रकाशित)

कहानी-संग्रह

1. *मुहब्बत की राहें* (1945)
2. *फ़रिश्ता* (1946)
3. *बिगड़े हुए दिमाग़* (1948)
4. *इंसान* (1950)
5. *सितार के तार* (1951)
6. *बलिदान की कहानियाँ* (1951)
7. *मंज़िल* (1951)
8. *महफ़िल* (1958)
9. *सपने का अंत* (1961)

10. *आँखों का सवाल* (1965)
11. *मंगली की टिकुली* (1982)
12. *आप क्या कर रहे हैं?* (1983)

नाटक और एकांकी

1. *कसौटी* (एकांकी संग्रह 1943)
2. *चंदबरदाई* (नाटक 1967)

इन रचनाओं के अतिरिक्त भैरव प्रसाद गुप्त ने गोर्की के *माँ* और वाल्तेयर के *कैंदीद* नामक उपन्यासों का अनुवाद किया। साथ ही, उत्पल दत्त के दो बाङ्ला नाटकों का अनुवाद और अनेक विदेशी रचनाओं का रेडियो नाट्य-रूपांतर।

भैरव प्रसाद गुप्त द्वारा संपादित पत्रिकाएँ

1. 'माया' और 'मनोहर कहानियाँ' (1944 से 1953)
2. कहानी (1955 से 1960)
3. उपन्यास (1956 से 1959)
4. नई कहानियाँ (1960 से 1962)
5. समारंभ-1 जनवरी-मार्च 1972
6. प्रारंभ-1 (1973)

संदर्भ-सामग्री (पत्रिकाएँ)

1. कहानी, वार्षिकांक '55
2. उपन्यास, अंक 1 से 36 तक
3. नई कहानियाँ, मई '60 से सितम्बर '62 तक के अंक
4. समारंभ-1, जनवरी-मार्च '72
5. प्रारंभ, सन् '73
6. कथा (संपादक : मार्कण्डेय) अंक 6 (मार्च '90) और (जनवरी '99)
7. प्रतिमान (संपादक : हृदयेश) प्रवेशांक, जनवरी '77
8. लेखन 3/4 (संपादक : विद्याधर शुक्ल) जुलाई '84 भैरव प्रसाद गुप्त के सड़सठवें जन्मदिन पर उन्हीं पर केन्द्रित।
9. साक्षात्कार, दिसम्बर '96 एवं जनवरी '97
10. समकालीन भारतीय साहित्य, जनवरी-फ़रवरी '96